उभरते प्रश्न

समाधान के आयाम

-आचार्य श्री नानेश

सकलन-सम्पादन :
मुनि श्री रामलालजी म. सा.

प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
बीकानेर (राजस्थान)

उभरते प्रश्न : समाधान के आयाम

आचार्य श्री नानेश

सकलन-सम्पादन
मुनि श्री रामलाल जी म० सा०

प्रकाशक :
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर-334001 (राज)

मूल्य : आठ रुपये

संस्करण · 1986

मुद्रक
फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर-302 003
फोन 48904

प्रकाशकीय

साधुमार्ग की इस पवित्र-पावन धारा को अक्षुण्ण वनाये रखने के लिए वडे-वडे आचार्यो ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान् महावीर के वाद अनेक वार आगमिक धरातल पर क्राति का प्रसग आया है। जिसका उद्देश्य श्रमण सस्कृति को अक्षुण्ण वनाये रखने का रहा। ऐसी क्राति धारा मे क्रियोद्धारक, महान् आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म० सा० का नाम विशेष रूप से उभर कर सामने आता है। तत्कालीन युग मे जहाँ शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। वडे-वडे साधु भी मठो की तरह उपाश्रयो मे अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलो के पीछे साधुता विखरती जा रही थी। ऐसे युग मे आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म० सा० ने उपदेशो से ही नही अपितु अपने विशुद्ध एव उत्कृष्ट सयममय जीवन से जन-मानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा सयमी ही नही थे, वरन् श्रमण-सस्कृति के गहरे आगमिक अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारो स्त्री-पुरुष आपके चरण सान्निध्य को पाने के लिए लालायित रहते थे। "तिन्नाण तारयाण" के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया और जो देशव्रती वनना चाहते थे, उन्हे देशव्रती वनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखलाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एक दम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधुमार्ग मे एक क्रान्ति घटित हुई। जिस क्रान्ति की धारा पश्चात्‌वर्ती आचार्यो से निरन्तर आगे वढी। आज हमे परम प्रसन्नता है कि समता विभूति विद्वद् शिरोमणि जिनशासन प्रद्योतक धर्मपाल प्रतिवोधक आचार्य श्री नानेश के सान्निध्य की हमे प्राप्ति हुई है। श्रद्धेय आचार्य प्रवर का व्यक्तित्व-कर्तृत्व अनूठा एव महनीय है। आपने एक साथ २५ (पच्चीस) दीक्षाए देकर सैकडो वर्षो के अतीत के इतिहास को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ऐसी एक नही अनेक क्रातिया आचार्य प्रवर के सान्निध्य मे घटित हो रही हैं। विशुद्ध सयम पालन के साथ-साथ आपके सान्निध्य मे आपके शिष्य-शिष्या रूप साधु-साध्वी वर्ग ने सम्यक् ज्ञान-विज्ञान की दिशा मे भी आश्चर्य-जनक विकास किया है।

शान्त क्रान्ति के अग्रदूत स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० सा० की स्मृति मे श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने रतलाम मे श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार मे अनेकानेक प्रकाशित एव हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह हुआ है। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थो का सचयन कर उन्हे भी अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशित कर रही है। इसी सकल्प की क्रियान्विति मे इस कृति को भी श्री गणेश जैन ज्ञान-भण्डार मे प्राप्त कर प्रकाशित करने मे सघ हार्दिक सन्तुष्टि का अनुभव कर रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक का समीचीनतया सकलन—सम्पादन आचार्य प्रवर के अन्तेवासी सुशिष्य तरुण तपस्वी, विद्वान् मुनि श्री रामलाल जी म० सा० ने किया है। एतदर्थ सघ मुनि श्री का आभारी है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे हमे शिक्षा और चिकित्सा सेवाओ हेतु सर्वभावेन समर्पित सुप्रसिद्ध उद्योगपति और स्वातन्त्र्य-समर के योद्धा तथा सार्वजनिक जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण अगो के सुचारु सचालन मे अपनी प्रतिभा, उदारता और कर्मण्यता से सहयोग प्रदान करने वाले **श्री चुन्नीलालजी मेहता** बम्बई का प्रशस्त अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है।

हृदय रोगियो के सहकार हेतु निर्मित 'रोज फाउण्डेशन' के अध्यक्ष, विभिन्न औद्योगिक और समाजसेवी सस्थाओ के सदस्य और पदाधिकारी के रूप मे श्री मेहता ने अपना जीवन राष्ट्र सेवा हेतु समर्पित कर दिया है। राष्ट्रीय रक्षा कोष हेतु धन का मुक्त भाव से समर्पण व सकलन कर आपने अपने उज्ज्वल राष्ट्रीय चारित्र को धवल महिमा से मडित किया है। सम्प्रति दरिद्रनारायण की सेवा मे अन्न, वस्त्र, औषध वितरण का जैसा व्यापक कार्यक्रम आप सचालित कर रहे हैं, वह समाज के लिए प्रेरक व अनुकरणीय है।

अभी-अभी आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए हैं। सम्यक्-ज्ञान के अधिष्ठान मे आपके इस प्रशस्त और उदात्त सहयोग के प्रति हम आभारी हैं।

पुस्तक के प्रबन्ध-सम्पादन मे डॉ० नरेन्द्र भानावत ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसके लिए हम उनका हृदय से आभार मानते हैं।

गुमानमल चोरडिया

सयोजक

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति

वसन्त पचमी, १९८६

प्रस्तुति

भौतिकवाद के इस युग मे मानव ने वहुत अच्छी वौद्धिक क्षमता अर्जित की है। वैज्ञानिक जगत मे जो विकास परिलक्षित हो रहा है, वह मानव की वौद्धिक क्षमता का परिचायक अवश्य है। किन्तु खेद इस वात का है कि वह वौद्धिक क्षमता जितनी भौतिकवाद की ओर गतिशील हुई है उतनी ही आत्मन् की दिशा से विमुख होती चली जा रही है।

आज मानव पौद्गलिक आकर्षण मे इतना रच पच गया है कि उसकी चेतना स्वय की ओर गतिशील नही हो पाती। यह कैसी विचित्र स्थिति है? इस विचित्र स्थिति के अनेक कारण हो सकते हैं।

इस विचित्र स्थिति पर जव चिन्तन करता हू, तव अनेक कारणो मे एक कारण यह भी लगता है कि वर्तमान मे अध्यात्म साधना की भिन्न-भिन्न पद्धतियो को देखकर चिन्तनशील मानस विक्षुब्ध हो उठता है कि इस अध्यात्म-वाद मे भी इस प्रकार विभिन्नता की स्थिति क्यो? इसका जव वह स्वय से समाधान नही ढूँढ पाता है तव अपना क्षोभ मिटाने हेतु वह अपने अभिभावको के समक्ष अपनी जिज्ञासाए प्रस्तुत करता है। अधिकाश अभिभावक ऐसे भी है जो उन जिज्ञासाओ का सम्यक् समाधान तो दे ही नही पाते वल्कि अपने अह का प्रभाव भी जमाना चाहते हैं। वैसे प्रसग पर उनके पास उस जिज्ञासु चेतना को झिडकने के सिवाय वचता ही क्या है?

अभिभावको द्वारा झिडके जाने पर वह प्रवुद्ध चेतना कुण्ठाग्रस्त होने लगती है और अध्यात्म से कतराने लगती है। उस अवस्था मे उसके चैतन्य मस्तिष्क मे अनेक प्रश्न उभरने लगते हैं। वे "उभरते प्रश्न" समाधान चाहते है। जव भी उन प्रश्नो का सम्यक् समाधान मिलता है तो वह चिन्तनशील मानस अध्यात्म के प्रति सहज ही उत्प्रेरित हो जाता है।

उन उभरते प्रश्नो को सही दिशा एव सम्यक् समाधान देने मे समता विभूति आचार्य श्री नानेश वेजोड है।

आचार्य श्री प्रत्येक जिज्ञासु चेतना को यह आह्वान करते रहे है कि वह अपनी कुण्ठा दूर करे, अपने उभरते प्रश्नो का आन्तरिक जिज्ञासा के साथ

उसी विशाल "समाधान सागर" मे से आचार्य प्रवर के सेवा समर्पित शिष्य तरुण तपस्वी विद्वान् श्री राम मुनिजी म सा ने विविध रगी-मनोहारिणी एक मुक्तावली का गु फन कर प्रस्तुत किया है ।

प्रस्तुत मुक्तावली मे युगीन समस्याओ को अपनी गोद मे समेटे हुए कितने सजीव एव सशक्त तीक्ष्ण-रगे प्रश्नो का समायोजन हुआ है—इसे कुछ उदाहरणो द्वारा प्रत्यक्ष करले—

○ प्रश्न · गृहस्थ जीवन मे गृहस्थी को अपनी गृहावस्था समाज के अनुकूल चलानी पडती है, उसके लिये आज के भौतिक स्तर पर अधिक धन उपार्जन की समस्या रहती है, जिससे उसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि का सहारा लेना पडता है । ऐसी स्थिति मे वह पाप से कैसे वचे ?

○ प्रश्न : अविरत सम्यग् दृष्टि आत्मा की अन्तरग परिणति तथा वाह्य प्रवृत्ति कैसी होती है ? . . . .

○ प्रश्न · जव श्रमण वर्ग के प्रवचन आदि की पुस्तके प्रेस मे छपाई जाती हैं तो प्रवचन आदि टेप क्यो नही कर सकते ? क्योकि प्रेस भी तो विजली से ही चलते है, फिर टेप करने मे क्या आपत्ति है ?

ऐसे एक नही अनेक युगीन ज्वलन्त एव साध्वाचार सम्वन्धी विविध आयामी समस्याओ के आगम सम्मत सटीक समाधान प्रस्तुत हुए है प्रस्तुत सकलन मे ।

आशा है, अनेक जिज्ञासु आत्माओ को समाधानपरक सतुष्टि प्राप्त होगी आचार्य प्रवर की अनुभूति मूलक इस अभिव्यक्ति के द्वारा—

वोरीवली (पूर्व) वम्वई

—शान्ति मुनि

(1)

प्रश्न : मनुष्य जो कार्य करता है वह अपने पूर्वजन्म के कार्यों के आधार पर "प्रारब्ध और पुरुपार्थ" के प्रभाव मे करता है। इम तरह तो पूर्व के जन्मो मे जिसने पाप किया वह उसके प्रभाव वश अगले जन्मो मे भी वैसा ही कार्य करता रहेगा। उसको वैसा ही फल प्राप्त होता रहेगा। इस तरह पापी सदैव पापी ही रहेगा और पुण्य जीव सदैव पुण्य ही प्राप्त करता रहेगा। यदि ऐसा है तो अनादि अनन्त काल पूर्व जब कभी भी प्रथम जन्म हुआ होगा तो उसके द्वारा प्रथम कार्य का नियमन कैसे हुआ होगा और क्यो ? तथा किसके द्वारा ?

उत्तर : आत्मा वर्तमान मे जो भी कार्य करती है वह सिर्फ पूर्व जन्म के कर्मोदय के प्रभाव से ही करती हो, ऐसा ऐकान्तिक नियम नही है। इस जन्म के पुरुषार्थ एव क्रिया-कलापो से नये कर्म भी उपार्जित कर लेती है और पहले के अनिकाचित कर्मों को शीघ्र भोग भी सकती है। अत आत्मा जब नये कर्मो का उपार्जन एव अनिकाचित कर्मों का परिभोग जल्दी भी कर सकती है। तो ऐसी स्थिति मे उसका नियामक भी वह स्वय ही है अन्य कोई नही। अन्य निमित्त बन सकते हैं।

किसी भी आत्मा की शुरुआत नही हुई वह तो अनादि काल से कर्मों के परिणाम स्वरूप ही विभाव दशा मे भटक रही है। इस प्रकार आत्मा अनादि काल मे चली आ रही है। भव्यात्मा सम्यक् अवबोध के साथ सत्पुरुपार्थ से कर्म विमुक्ति का कार्य पूर्ण करले तो वह सदा सर्वदा के लिये दु खो मे मुक्त भी हो सकती है।

(2)

प्रश्न : अविरति सम्यग् दृष्टि आत्मा की अन्तरग परिणति तथा बाह्य प्रवृत्ति कैसी होती है ?

उत्तर : सम्यक् दृष्टि की आन्तरिक परिणति वीतराग देव के सिद्धान्तानुसार सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की दृढ आस्था के रूप मे होती है। वह सम्यक् दृष्टि अरिहन्त एव सिद्ध भगवन्तो की वीतराग दशा पूर्वक स्वरूप रमण रूप आस्था का अनुभव करने की चेष्टा करता है। इसको लक्ष्य मे रखकर सुगुरु की आस्था भी निर्ग्रन्थ अवस्था के अनुरूप रखता है। सुधर्म के स्वरूप को विश्वास रूप से हृदयगम करने के लिये सम्यक् ज्ञान का अवलम्बन लेता है तथा जीवादिक

तत्त्वो का यथार्थ विज्ञान करने की शक्ति भर चेष्टा रखने की आस्था वाला होता है। जैसे-जैसे भेद विज्ञान की अभिवृद्धि के साथ हेय, ज्ञेय और उपादेय की अवस्था मे प्रवीण होता है, वैसे-वैसे स्वरूप मे रमण किस विधि से किस प्रकार होता है, इसका भी विज्ञान करने लगता है। तथा आन्तरिक स्थूल एवं सूक्ष्म परिणतियो का विज्ञान पूर्वक वर्गीकरण करता रहता है। साथ ही उपरोक्त अवस्था से आनन्द का अनुभव करता है इत्यादि आन्तरिक परिणति के परिणाम स्वरूप मन मे समताभाव के अकुर अभिवृद्धि को प्राप्त होते हैं। जैसे-जैसे इन भावो की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे ममत्व रूप आसक्ति की ग्रन्थिया शिथिल होने लगती है। मोह सम्बन्धी वासना फीकी, सारहीन मालूम पडने लगती है और उससे उदासीनता की अभिवृद्धि होने लगती है। कषाय की परिणति भी मदता की ओर अग्रसर होने लगती है। अन्य आत्माओ को स्वात्मा के तुल्य समझता हुआ "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत" की भावना को आचरण रूप मे परिणत करता है। पाच इन्द्रियो के मोहक विपयो का मन मे आकर्षण नही होता, अर्थात् उसमे मोहित नही होता। सेक्स की भावना मन्द-मन्दतर होती रहती है। स्त्रियादि पारिवारिक जनो से मोह की दशा सिकुडती जाती है। समग्र विश्व के समस्त प्राणियो को परिवार के रूप मे अर्थात् वसुधैव कुटुम्बकम् के रूप मे, देखने लगता है। भूतकाल की दृष्टि से समस्त प्राणियो के प्रति माता-पितादि सम्बन्धो का विशेप अनुभव करने लगता है। यह भी सोचता है कि उन सब के उपकार से उऋण होने के लिये उनको किस रोज अभयदान दू। सभी के प्रति समभाव पूर्वक कल्याणमय भावना प्रेपित करने वाला कब बनू। वर्तमान के माता-पितादि पारिवारिक जनो के लिये ही इस जीवन को लेकर चलता हूँ, गृहस्थाश्रम मे रहता हूँ, तो अनतानत भूतकालीन माता-पितादि को विनष्ट करने से बच नही सकता। मानव जीवन ही एक ऐसा अवसर है जिससे समग्र जीवो के उपकार से उऋण हो सकता हूँ। इसके लिये एक मात्र साधन, समग्र आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर "खतो दतो निरारभो" बन कर निर्ग्रन्थ पद की साधना मे जिस दिन तन्मय बनूगा वह दिन मेरा धन्य होगा। इत्यादिक मानसिक विचार तरगे अत्यधिक तरगित होती हैं। तब वे वाणी के रूप मे भी प्रवाहित होने लगती है। परिणामस्वरूप वचन परिणति भी समग्र प्राणियो के लिये हितकारी, मितकारी तथा मधुर रूप मे, राग-द्वेप की परिणति से रहित समता के रूप मे अभिव्यक्त होने लगती है। उन्ही मानसिक, वाचिक वृत्तियो मे तीव्रता आने से कायिक परिणति मन-वचन के अनुसार पर आत्माओ के साथ परिणति होने लगती है तथा पर पदार्थों को वैभाविक भाव की परिणति मे निमित्त मानकर उनसे यथा शक्ति बचने का प्रयत्न करने लगता है। उसमे स्वरूप रमण की पुष्टि स्वय की ही कायिक प्रवृत्ति से स्पष्ट होने लगती है। ऐसे अनेक प्रसगो मे सम्यग् दृष्टि आत्मा की आभ्यन्तर एव बाह्य प्रवृत्ति का विज्ञान किया जा सकता है।

(3)

प्रश्न : प्रतिक्रमण का काल कहाँ तक कैसे समझना ? बीस बोल तीर्थ कर गौत्र के बताये हैं उसमे 11वें बोल मे कालोकाल प्रतिक्रम करता हुआ जीव कर्मो की कोड खपावे आदि। ज्ञान के अतिचार मे भी बताया है कि "अकाले कओ सज्झाओ काले न कओ सज्झाओ" यदि साधुजी के बड़े ध्यान के बाद श्रावक आज्ञा लेते हैं तो प्रतिक्रमण जो सूर्यास्त के बाद एक मुहूर्त मे होना चाहिये, उससे अधिक समय लगने मे काल का उल्लंघन नही होता क्या ? यदि हो तो प्रायश्चित्त का भी कारण बनता है या नही ?

उत्तर : सूर्यास्त होते-होते सतो के प्रतिक्रमण चालू होने का प्रसग रहता है। उनके बडे ध्यान तक लगभग 10 मिनट लग सकते हैं। तदनन्तर श्रावक यदि प्रतिक्रमण की आज्ञा ले तो उनका प्रतिक्रमण समय पर हो सकता है। यदि सवैया वगैरा अधिक न बोले तो, श्रावक के प्रतिक्रमण मे साधु प्रतिक्रमण की अपेक्षा समय कम लगता है ऐसा अनुमान है।

प्रतिक्रमण का काल 48 मिनिट के आस-पास का रहता है। कभी धीरे-धीरे बोलने आदि की परिस्थितिवश समय अधिक लगे तो 60 मिनिट के आस-पास प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये। इसमे भी अधिक समय लगे तो उसकी आलोचना करके प्रायश्चित लेना चाहिये।

(4)

प्रश्न : गृहस्थ जीवन मे गृहस्थी को अपनी गृहावस्था समाज के अनुकूल चलानी पडती है। उसके लिए आज के भौतिक स्तर पर अधिक धन उपार्जन की समस्या रहती है, जिससे उसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि का सहारा लेना पडता है। ऐसी परिस्थिति मे वह पाप से कैसे बचे ?

उत्तर : कटु चिरायता को स्वस्थ स्थिति मे कोई भी मानव पीना नही चाहता, किन्तु रोग निवारण हेतु लेना पडता है। उस समय उसकी भावना यही रहती है कि जितना कम लिया जाय उतना अच्छा है और उसमे भी वह स्वाद लेने की भावना नही रखता। वैसे ही विकारी अवस्था रूप रोग को शमन करने हेतु लाचारी वश जो कुछ भी करना पडे उसमे आसक्ति का जायका नही लेते हुए हिंसा आदि को हिंसा के रूप मे मानकर तटस्थ भाव से उत्तरदायित्व का निर्वाह करना अपना कर्तव्य समझे। जैसा कि अनुभवियो का कहना है—

सम्यग्दृष्टि जीवडा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यो धाय खिलावे बाल ॥

इस भावना को सदा ध्यान मे रखे किन्तु इसके लिये यह आवश्यक

है कि आज के परिवेश मे यदि उसे पाप से वचना है तो झूठे प्रतिस्पर्धात्मक प्रदर्शन से ऊपर उठना होगा । अपनी आवश्यकताओ को सीमित करना होगा । इच्छाओ, उद्दाम लालसाओ पर विजय प्राप्त करना होगा । यदि पाप से वचना है तो जीवन चर्चा सादी वनानी होगी । हिंसाचारी आदि का सहारा अधिक सुविधाओ को जुटाने के लिये करना पडता है । सुविधावादी दृष्टिकोण नही हो और सीमित आवश्यकताओ मे निर्वाह किया जाए तो पाप से एक सीमा तक वचा जा सकता है ।

(5)

प्रश्न : 'जैन तत्त्व प्रकाश' मे जो वाइस प्रकार के अभक्ष्य वतलाये गये है क्या वे सर्वमान्य हैं ?

उत्तर : 'जैन तत्त्व प्रकाश' मे वतलाए गए 22 प्रकार के अभक्ष्य सर्वमान्य एव आगमसम्मत नही है । व्यक्ति विशेष का अभिमत हो सकता है ।

'जैन तत्त्व प्रकाश' मे निम्न अभक्ष्य वतलाए है —

1 वड के फल	12 ओला
2 पीपल के फल	13 माटी
3 गूलर के फल	14 रात्रि भोजन
4 कठ भूर के फल	15 पपोट फल
5 पाकर के फल	16 अनन्तकाय
6 मदिरा	17, अथाना (अचार)
7 मास	18 घोलवडे
8 मद्य	19 वैंगन
9 मक्खन	20 अनजाने फल
10 हिम (वर्फ)	21 तुच्छ फल
11 विप	22 चलित रस

किन्तु शास्त्रकारो ने उपरोक्त सभी वस्तुओ को अभक्ष्य नही वतलाया है । 'दशवैकालिक सूत्र' मे साधुओ के अनाचार वतलाते हुए कहा है—

मूलए सिंगवेर य उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सचित्ते, फले वीए य आमए ।।

अर्थ —सचित्त मूला, अदरख, इक्षुखण्ड कन्द-व्रजकद आदि, मूल जड, आम, नीवू आदि और तिलादि का सेवन न करे अर्थात् अचित्त प्रासुक हो तो ग्रहण कर सकता है ।

यदि उपरोक्त कथनानुसार, अनंतकाय इक्षुरस, वहुवीजा, फल आदि वस्तुए शास्त्रकारो की दृष्टि मे अभक्ष्य होते तो साधु को चाहे सचित्त हो या अचित्त, प्रासुक या अप्रासुक शास्त्रकार, स्पष्ट निषेध कर देते । किन्तु निषेध नही किया वल्कि उस गाथा से प्रासुक हो तो साधु ग्रहण कर सकता है फलित होता है । अत सिद्ध है कि ये अभक्ष्य नही ।

दूसरी वात पपोट फल अनार, वैंगन, अजीर आदि को वहुवीज होने से अभक्ष्य कहा जाय तो भिण्डी, नीवू मे भी एक से अधिक वीज तो होते ही हैं तथा फूल गोभी मे त्रस जीवो की प्राय सभावना वनी रहती है तो उनको भी अभक्ष्य मानना पड सकता है । यदि एक वीज मे एक जीव होने पर भी उन सव वीजो के समूह को वहुवीजा कह कर अभक्ष्य माना जाय तो एक रोटी भी वहुत सारे गेहू से वनती है तो वह भी अभक्ष्य हो जायगी । जिसे पकाने के लिये भी षट काय के असख्य जीवो की हिंसा होती है तव इतनी हिसा से निष्पन्न पदार्थ को उपरोक्त युक्ति अनुसार भक्ष्य कैसे माना जाएगा ?

पानी की एक वूद असख्य जीवो का पिंड है । उसमे लीलन फूलन की नियमा मानी गयी है । लीलन फुलन अनन्त कायिक होती है । वैसी स्थिति मे पानी भी अभक्ष्य हो जाएगा । वस्तुत यदि ऐसा माना जाय तो जगत के सभी प्राणी अभक्ष्य खाने वाले होंगे क्योकि वनस्पति भी एकेन्द्रिय है और अन्य पृथ्वी पानी, अग्नि, वायु भी एकेन्द्रिय होने से समान है किन्तु इन पदार्थों को शास्त्रो मे अभक्ष्य नही माना है ।

वैगन की दूषित आकृति से उसको अभक्ष्य कहा गया हो तव तो आम्र फल भी उस आकार का होता है मात्र रग का ही परिवर्तन रहता है । इसी प्रकार कइ फलो मे भी आकृति दोष होने से उनको भी अभक्ष्य मानना चाहिये । किन्तु यह आगमाभिमत नही है । आगमकारो ने उन्हे अभक्ष्य नही वताया ।

अयाना को भविष्य मे फूलन, जीवोत्पत्ति की आशका से अभक्ष्य कहा गया हो तो इस प्रकार मे तो रोटी, सब्जी मे भी भविष्य मे फूलन-जीवोत्पत्ति होने की शका रह सकती है । अत उन्हे भी अभक्ष्य मानना चाहिये ।

मधु-नवनीत को अभक्ष्य नही कहा जा सकता क्योकि अपवाद मार्ग मे प्रासुक मधु-नवनीत को साधु भी ले सकता है । अगर मास के समान ये पदार्थ अभक्ष्य होते तो साधु को हर अवस्था मे निषेध कर दिया जाता । शास्त्रकारो ने इनको महा विगय वताया है किन्तु अभक्ष्य नही

अत मास-मदिरा के अतिरिक्त ऊपर कथित अन्य वस्तुओ को अभक्ष्य कहना आगमाभिमत प्रतीत नही होता । हा कोई व्यक्ति स्वेच्छा से जितना त्याग करना चाहे कर सकता है । किन्तु उन्हे अभक्ष्य नहीं कहना चाहिए ।

(6)

प्रश्न · स्वाध्याय के काल-अकाल की मर्यादा 32 आगमों के अलावा किसी प्राकृत ग्रन्थ—जैसे गौतम कुलक, स्तुति, अष्टक आदि के बारे मे भी रखना चाहिये या कैसे ?

उत्तर : स्वाध्याय की काल मर्यादा कालिक एव उत्कालिक सूत्रो के लिये मानी गयी है। इसके अतिरिक्त अन्य के लिये काल मर्यादा का ऐसा कोई प्रावधान नही है।

(7)

प्रश्न : कहीं-कहीं निवास के समीपवर्ती घरों मे माँस-मच्छी खाते हैं। वह ज्ञात-अज्ञात दोनो ही होते हैं तो स्वाध्याय मे बाधा पड़ती है क्या ?

उत्तर : मास-मच्छी आदि दृष्टि मे नही आते हो तथा गध आदि का प्रसग भी नही हो तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को लक्ष्य मे रख कर स्वाध्याय करने के लिये सोचा जा सकता है।

(8)

प्रश्न : शास्त्रों एवं ग्रन्थों आदि को छापना और बेचना क्या यत्र पिलन कर्मादान के अन्तर्गत लें, क्योंकि यत्र का उपयोग होता है।

उत्तर · शास्त्र आदि का छापना, बेचना आदि यत्र पिलन कर्मादान के अन्तर्गत नही है।

(9)

प्रश्न : कई प्रश्न करते हैं कि जिसने समकित दूसरे सम्प्रदाय की ले रखी है और वे सबको वदन करते हैं तो क्या समकित मे दोप लगता है ? इसका मचोट उत्तर क्या देना चाहिये ?

उत्तर · सम्यक्त्व का तात्पर्य होता है कि आज से मैं सुदेव-सुगुरु और सुधर्म पर श्रद्धा करता हू। इस दृष्टिकोण मे जो प्रभु महावीर के बतलाये हुए सिद्धान्तो के अनुसार सयमी जीवन यापन करता है वह गुरु पद के अन्तर्गत समाहित होता है। उसे गुरु बुद्धि से वन्दन करना सावद्य नही है। किन्तु जो वीतराग वाणी से विपरीत चलते हो तो उन्हे वीतरागवाणी के अनुसार चलने की प्रेरणा देनी चाहिये। यदि प्रेरणा देने पर भी वह अपने कदम नही बढाता है तो उसके प्रति अहिंसक असहयोग यानी उसे वन्दन-सत्कार, सन्मान नही

देना चाहिये। इसके साथ-साथ सम्यक्त्वी के लिये जो आगार बतलाये हैं उन आगारो के अन्तर्गत कदाचित् सम्यक्त्वी को कुगुरुओ को वन्दन करने का प्रसग आता है तो सम्यक्त्व मे दोष नही लगता। किन्तु बतलाये गये आगारो का कोई प्रसग नही होने पर भी कुगुरुओ को गुरु बुद्धि से वन्दना-नमस्कार करता है, सत्कार-सन्मान देता है तो सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व मे दोष लगने का प्रसग आता है।

(10)

प्रश्न : इस साधनामय जीवन मे परम इष्ट गुरु—गुरुणी का मोह ऐसा हो जाता है कि उसे दूर करना अति ही कठिन है। ऐसी अवस्था मे चातुर्मास का समय भी निकालना मुश्किल हो जाता है अतएव ऐसे समय मे साधकों को क्या करना चाहिये ?

उत्तर : साधको मे गुरु के प्रति प्रशस्त राग भाव होना स्वाभाविक है किन्तु वह मोह की सज्ञा से अभिहित नही होता।

उस प्रशस्त राग भाव के कारण कभी दूरस्थ क्षेत्र में उनकी स्मृति आना भी सहज है। लेकिन साधक को ज्ञान चक्षु से चिन्तन करना चाहिए कि गुरु की आज्ञा से यदि कही भी हैं तो गुरु के सनिधि में ही हैं।

"इगियारसपण्णे" विनीत शिष्य का लक्षण बताया है। गौतम स्वामी प्रभु महावीर के अतिम समय में भी प्रभु का इशारा पाते ही सोमिल ब्राह्मण को प्रतिबोध देने पहुचे थे। इस आदर्श को सम्मुख रखते हुए विचार करने पर साधक अपनी साधना मे सानन्द सलग्न रह सकता है।

(11)

प्रश्न : कच्ची ज्वार को सेक कर जो खाने योग्य बनाई जाती है, उन सिके हुए दानों को लिया जा सकता है या नही ?

उत्तर : कच्ची ज्वार जिसे बालु आदि के साथ अच्छी तरह सेक ली हो वह अचित्त हो जाती है। जैसे चणा आदि। किन्तु यदि ज्वारी भुट्टे (सिट्टे) के रूप मे सेकी गई हो तो उसमे अचित्त की निर्णायक स्थिति नही रहती। इसलिए वह अग्राह्य होती है। भुट्टे के दानो में भी शका शकी रहती है इसलिए ग्रहण नही किया जाता।

(12)

प्रश्न : सामायिक प्रतिक्रमणादि को यदि कोई गायन मे बनाता है तो क्या आशातना होती है ?

उत्तर : सामायिक प्रतिक्रमण आदि के मूल पाठो के साथ जैसे हिन्दी अनुवाद होता है वैसे यदि कोई गायन (काव्य) रूप मे करता है तो उसमें आशातना का प्रसग नही है। किन्तु यदि मूल पाठ के प्रति अवमानना अथवा उन पाठो का उच्चारण किये बिना केवल गायन आदि का ही प्रयोग किया जाता हो तो वह योग्य नही है!

(13)

प्रश्न : छोटा सा कण घुटने के ऊपर से नीचे गिर जाता है तो घर असुसता कर दिया जाता है कारण कि वायु काय की विराधना होती है। फिर तीन वार ऊठ वैठ कर वन्दन करने से क्या वायु काय की विराधना नहीं होती ?

उत्तर : घुटने के ऊपर से छोटा सा कण गिरने पर जो घर असुसता किया जाता है उसके पीछे मुख्यतया गृहस्थ की लापरवाही कारण है। क्योकि गृहस्थ की लापरवाही से ही सामग्री ऊपर से गिरती है। इसलिए अयतना के कारण घर असुसता किया जाता है किन्तु वन्दना करने मे यह वात नही है। यदि अविवेक अथवा अयतना से वन्दना करता है तो उसमे भी कर्मो का वन्ध होता है। पर जो वन्दना वन्दना के दोपो को टाल कर शुद्धभाव पूर्वक की जाती है उसमे पाप कर्म का वन्ध नही होता जैसा कि दशवैकालिक सूत्र मे कहा है —

जय चरे जय चिट्ठे जय मासे जय सये।
जय भुजतो भासतो, पाव कम्म न वन्धइ ॥

अत वन्दना यदि यतना पूर्वक की जाती है तो उससे वायु काय की विराधना सम्भव भी नही है कदाचित् विराधना हो भी जाती है तो उसमे पाप कर्म का वन्व नहीं होता तथा शुद्ध भाव से की गई वन्दना से आत्मशुद्धि होती हे।

(14)

प्रश्न खमासमणो दो वार क्यो दिया जाता है ? पहली वार मे वीच मे खडे होना तथा दूसरी वार मे खडे न होने का क्या कारण है ?

उत्तर . खमासमणो द्वारा गुरु से विनम्रता पूर्वक क्षमा याचना की जाती है। शिष्य के द्वारा तेंतीस आशातनाओ मे से कोई भी आशातना हो गई हो तो उसके लिये प्रतिक्रमण के प्रसग मे गुरु से क्षमायाचना करता है। आशातना मुख्य रूप मे दो प्रकार की होती है—खडे-खडे या वैठे-वैठे। इन दोनो ही प्रकार की आशातनाओ की क्षमायाचना भी दो प्रकार से की जाती है। खडे-खडे

की गई आशातना की क्षमा-याचना खमासमणो की पहली पाटी में खड़े होकर की जाती है। बैठे-बैठे की गई अविनय अशातना की क्षमा-याचना खमासमणो की दूसरी पाटी द्वारा बैठे-बैठे की जाती है।

(15)

प्रश्न : हमारे पूर्वजों के नाम से जो दुकानें, व्यापार, मिलें, कारखाने, कृषि फार्म आदि चलते हैं। क्या उसकी क्रिया हमारे पूर्वजों को आती है ?

उत्तर : पूर्वजो ने अपने हाथ मे दुकान, व्यापार आदि किया और उन वस्तुओ का स्वेच्छा से विधि पूर्वक त्याग नही किया हो तो उन दुकान आदि मे होने वाली क्रियाओ का सम्बन्ध उन पूर्वजो की आत्माओ के साथ भी रहता है।

(16)

प्रश्न : हमारे पूर्वजो के नाम से पौषध शाला, स्थानक, पुस्तकालय, चिकित्सालय, छात्रावास, विद्यालय, धर्मादा पारमार्थिक ट्रस्ट आदि अनेक सस्थायें बनी हुई हैं। वहा के विभिन्न शुभ कार्यों की क्रियायें क्या हमारे पूर्वजो को लगती हैं ?

उत्तर : पूर्वजो ने पौषधशाला आदि का निर्माण करवाया। ऐसे शुभ कार्य तभी सम्पादित होते हैं जब उन परिग्रह से मोह-ममत्व हटता है और त्याग की भावना बनती है। यदि कदाचित् किसी की उन मकानो मे भी आसक्ति रह गई हो तो उस आसक्ति से सम्बन्धित क्रियायें उनको भी लगती हैं। आसक्ति रहित किए गए पारमार्थिक कार्य से उन आत्माओ को महान् पुण्यादि फल की प्राप्ति होती है। वे शुभ क्रियायें परलोक मे भी लगती रहे— ऐसा कम सम्भव है। क्योंकि क्रियाओ का जन्म-जन्मान्तर सम्बन्ध ममत्व से होता है। किन्तु पारमार्थिक वस्तुओ के बनाते समय ही बनाने वालो ने ममत्व का त्याग कर दिया इसलिए तत्क्षण ही उसको पुण्य, आत्म शुद्धि आदि लाभ प्राप्त हो जाता है।

(17)

प्रश्न : बहुत से लोग तीर्थंकरो के नाम से, फल कारखाने, दुकानें, औषधालय, वाचनालय, भवन, ग्रन्थालय, नगर, ज्ञानमंदिर, छात्रावास, स्मृति भवन आदि अनेक सस्थायें चलाते हैं। जब कि तीर्थंकर भगवान मोक्ष पधार गये हैं। ऐसी स्थिति मे उनके नामो से चलने वाली सस्थाओं की शुभ-अशुभ क्रियायें किनको लगती हैं ?

उत्तर तीर्थंकरो के नाम से किये जाने वाले शुभ या अशुभ कार्य की शुभ अशुभ क्रिया भी करने वालो को ही मिलती है तीर्थंकर भगवान को नही। क्योकि वे ससार की सम्पूर्ण वस्तुओ के त्यागी व सर्वथा मोह माया रहित होते हैं। यहा तक कि उनका शरीर पर भी कोई ममत्व नही रहता। जिससे मृत्यु के वाद होने वाली दाह सस्कार की क्रियाओ का सम्वन्ध भी उनके साथ नही होता। तव उनके नाम से अन्यो के द्वारा किए जाने वाले कार्य से उन महापुरुषो का सम्वन्ध कैसे हो सकता है ? कभी नही। अत· उनके नाम पर किए गए शुभाशुभ कार्य का सम्वन्ध करने वाले कर्ता का ही होता है।

(18)

प्रश्न : वहुत से मुनिराज एवं श्रावक विद्यालय, छात्रावास, भवन, स्थानक, पोपधशाला, उपासरा, ग्रन्थालय, नगर, निवृत्ति-निवास आदि सस्थाये वनाने की प्रेरणा देते हैं। क्या इनकी क्रियायें मुनिराजो—श्रावको आदि प्रेरणा देने वालो को आयेंगी ? यदि क्रियायें लगती हैं तो किस प्रकार की क्रियाये लगती हैं ? क्या ऐसी सस्थायें बनवाने का उपदेश दे सकते हैं ? यदि दे सकते हैं तो उस सस्था के द्वारा पाप-पुण्य की शुभ-अशुभ होने वाली क्रियायें उपदेश देने वालो को अथवा उपदेश ग्रहण कर सस्थायें वनाने वालो को आयेंगी सयुक्त रूप से, अथवा किसी एक को क्रिया आयेगी ?

उत्तर मुनिराज हिंसा से सम्वन्धित कार्य के तीन करण तीन योग से त्यागी होते है। वे स्वय करते नही, न हिंसा दूसरो से करवाते हैं। और न ही हिंसा करने वालो को अच्छा समझते हैं। मन-वचन-काया से।

अत. वे अपनी गृहित मर्यादाओ के अनुसार आरम्भ-समारम्भ के कार्यो का उपदेश नही देते। उनका उपदेश तो दान, शील, तप, भावनामय साधु भाषा मे होना चाहिये। अत जो मुनिराज, साधु मर्यादाओ के अनुसार ज्ञान दानादि का तटस्थ उपदेश देते हो तो ऐसे मुनिराजो को गृहस्थ द्वारा किये गये कार्य से कोई दोप नही लगता। परन्तु गृहस्थ अपना कर्तव्य समझ कर ज्ञान, दान, आदि देने विपयक सस्था आदि का शुभ भाव से निर्माण करता है तो गृहस्थ को शुभ भाव के अनुपात मे पुण्य वधादि होता है। जो कुछ आरम्भ-समारम्भ सवंधित हिंसा होती है वह उनके आरभजा क्रिया से सवधित रहती है। इस प्रकार की आरभजा क्रिया का गृहस्थ के सर्वथा त्याग नही होता, मर्यादा हो सकती हैं।

किन्तु जो साधु, शास्त्र प्रतिपादित मर्यादाओ को तोडकर मकान वनवाने आदि आरभ-समारंभ के कार्यो की प्रेरणा देता है तो साधु को भी उस कार्य से पाप लगने का प्रसग है एव गृहीत मर्यादाओ मे स्खलना भी (दोप) होती है।

साधु के उपदेश से निर्मित सस्था के प्रति साधु के मन मे यदि आसक्ति भाव बन जाता है तो उस सस्था मे होने वाली क्रिया उस साधु को भी लगती रहेगी । अत- साधु को अपनी मर्यादा मे रहते हुए ही उपदेश आदि देना योग्य है । मर्यादा तोडकर आरभ-समारभ के कार्यों मे भाग लेना कतई योग्य नही रहता ।

(19)

प्रश्न . बहुत से आचार्यों मुनिराजो के नाम मे अनेक सस्थायें जैसे पाठशाला, विद्यापीठ, परीक्षाबोर्ड, स्थानक, उपासरे, छात्रावास, वृद्धाश्रम, बैंक आदि सस्थाये चल रही है उन विगत एव वर्तमान आचार्यों, मुनिराजो को इनकी क्रियायें लगती है क्या ?

उत्तर : जिन-जिन व्यक्तियो (आचार्यादि) के नाम मे कोई भी सस्था आदि गृहस्थ चलाता है और जिन सस्था आदि पर (आचार्यादि) का नाम है, वे उन आरभ-समारभ आदि कार्यों का अनुमोदन भी नही करते हो तो उनके नाम से गृहस्थो द्वारा किए गए कार्यों की क्रियाओ का सबध उन आचार्यादि मे नही जुडता ।

किन्तु जो आचार्यादि अपने नाम मे चलने वाली सस्थाओ मे होने वाले आरभ-समारभ आदि क्रिया का कराना और प्रेरणा देना तो दूर, यदि अनुमोदन भी करते हैं तो पाठशालादि सस्थाओ मे होने वाली क्रियाओ का सबध उनके साथ जुडने से वे आचार्यादि भी उस पाप मे सबद्ध होते है । साथ ही अपने व्रतो को भी दूषित करते हैं ।

(20)

प्रश्न : कायोत्सर्ग के अन्दर कितने लोगस्स का ध्यान करना, क्या मूल सूत्र मे इसका उल्लेख है ?'

उत्तर : मूल सूत्रो मे लोगस्स काउस्सग करना चाहिए, इसका उल्लेख नही होने से ही अनेक प्रकार के भेद दिखलाई देते हैं । उन सब को एकीकरण करने के लिए सम्वत् 1990 अजमेर वृहत् साधु सम्मेलन मे तथा 2001 सादडी सम्मेलन मे सर्वानुमति प्रस्ताव पारित हुआ कि सम्वत्सरी को 20 लोगस्स, चौमासी को 12 लोगस्स, पक्खी के 8 लोगस्स, प्रति दिन 4 लोगस्स का ध्यान करना ।

सभी ने इसको मान्य किया । तदनुसार आज भी उसी अनुरूप लोगस्स का ध्यान किया जाना चाहिए ताकि विभिन्नता मे भी एकता के दर्शन हो । सर्वानुमति का वह प्रस्ताव निम्नानुसार है —

"साधु साध्वियाए मुनि प्रतिक्रमण देवसी, रायसी, चौमासी, अने सम्वत्सरीनु एकज प्रतिक्रमण करवु, वे नही अने कायोत्सर्ग देवसी रायसी ना चार लोगस्स, पक्खी ना आठ, चौमासिक ना 12 अने सम्वत्सरी ना 20 लोगस्स आ प्रमाणे श्रावको ने वर्तवा माटे पण आ सम्मेलत भल्लावण करे छै, आ ठराव सर्वानुमते पास करेल छै ।"

(मुनि सम्मेलन नो सक्षिप्त हेवाल ता० 23–4–1933 वार रवि)

(21)

प्रश्न : साध्वी खडे-खडे कायोत्सर्ग क्यो नहीं कर सकती ?

उत्तर : साध्वी को खडे-खडे काउस्सग्ग करने का वृहत् कल्पसूत्र मे निषेध है । खडे-खडे काउस्सग्ग करने की निषिद्धता के पीछे मुख्य रूप से शील व्रत की सुरक्षा का प्रावधान रहा हुआ है । ऐसा वृहत् कल्पसूत्र के उद्देशक 5 सूत्र 23 से स्पष्ट होता है । प्रस्तुत उद्देशक मे सूत्र 13 से लेकर 55 तक के सूत्रो मे मुख्य रूप से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा रूप नियमो का विधान किया गया है । 23वा सूत्र भी उसी श्रृखला मे है । अत साध्वी जीवन की सुरक्षा हेतु साध्वी को वीतराग आज्ञानुसार खडे-खडे काउस्सग्ग नही करना चाहिए । साध्वी की तरह यह नियम श्राविका वर्ग के लिए भी उसी रूप मे लागू होता है ।

(22)

प्रश्न : साध्वी को भिक्षाचर्या हेतु अथवा शारीरिक चिन्ता निवारणार्थ आदि के लिए स्थानक से बाहर अकेले क्यो नही जाना चाहिये ?

उत्तर : तीर्थंकर देवो का कथन त्रिकाल सबंधित होता है । साध्वी को अकेले स्थानक आदि से बाहर जाने का जो निषेध किया गया है उसके पीछे साध्वी जीवन की सुरक्षा का मुख्य हेतु रहा हुआ है । साध्वी स्त्री पर्याय से होती है । स्त्री पर्याय पर मोह सम्बन्धी उपसर्ग भी अधिक आते है । पुरुष शरीर पर बलात्कार नही किया जा सकता जब कि स्त्री पर्याय पर उसकी सभावना रहती है । अत साध्वी के अकेले गृहस्थी के घर भिक्षा चर्या के लिए प्रवेश करने पर उस घर मे कभी एकाकी पुरुष के होने से अथवा कामुक पुरुष द्वारा अभद्र व्यवहार किया जा सकता है जो साध्वी जीवन के लिए घातक सिद्ध हो सकता है तथा जिन शासन की भी हीलना निन्दा सभवित है । इसी प्रकार शारीरिक चिन्ता निवारणार्थ साध्वी का एकाकी गमन भी योग्य नही रहता । उसका वृहत्कल्प सूत्र मे स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध है यथा —

नो कप्पइ निग्गथीए एगाणियाए
गाहावइ कुल पिण्डवाय पडियाए
निक्खमित्त एवा पविसित्तए वा ॥5॥6॥
नो कप्पइ निग्गथीए एगाणियाए
वहिया वियार भूमि वा विहार भूमि वा
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥5॥7॥

अत साध्वी को भिक्षादि के लिए एकाकी स्थानक से वाहर नही जाना चाहिए कदाचित् तीन ही साध्विया हो और दो का स्वास्थ्य ठीक नही हो तो वैसी विकट परिस्थिति मे वह अकेली साध्वी एक विश्वस्त वहिन के साथ भिक्षादि के लिए स्थानक आदि से वाहर निकल सकती है तथा गृहस्थ के घर मे प्रवेश कर सकती है पर एकाकी नही ।

(23)

प्रश्न : पक्खी आदि पर्व दिनो मे दो प्रतिक्रमण करने का ज्ञातासूत्र के पाचवे अध्ययन मे वर्णन आया है । दो प्रतिक्रमण करने से विशुद्धि भी अधिक होने की सभावना है । अत पक्खी आदि पर्व दिवसो मे दो प्रतिक्रमण क्यो नही करना चाहिये ?

उत्तर : आगमो मे पक्खी आदि पर्व दिवसो पर कही भी दो प्रतिक्रमण का विधान नही है । ज्ञाता धर्म कथाग के पचम अध्ययन मे पथक जी द्वारा दो प्रतिक्रमण का जो कथन किया जाता है वह भी सगत नही है क्योकि ज्ञाता धर्म की प्राचीन प्रतियो मे दो प्रतिक्रमण करने का उल्लेख नही है । अर्वाचीन (वाद की) कुछ प्रतियो मे मूल पाठ प्रक्षिप्त लगता है । प्राचीन प्रति का वह मूल पाठ निम्नानुसार है —

मूलम्-तएण सेपथए सेलएण एव वुत्ये समाणे तत्थे तसिए करयल कट्टु एव वयासी अहण भते पथय कय काउसग्गे देवसिय पडिक्कते चाउम्मासिय खामेमाणे देवा-णुप्पिय वद माणे सीसेण पाए सघट्टेमि त खमतुण देवाणुप्पिया णाय भुज्झो-भुज्झो एव करण याएत्ति कट्टु—

(सवत् 1761 की लिखी हुई टव्वा की प्रति ज्ञाता सूत्र अध्य 5 से उद्धरित)

उक्त मूल पाठ मे देवसी प्रतिक्रमण करके चातुर्मासिक क्षमापना हेतु पाठ आया है । इसमे अलग से दूसरा प्रतिक्रमण करने का उल्लेख ही नही है । अत पथक जी के नाम से दो प्रतिक्रमण सिद्ध नही होता ।

दूसरी वात—प्रथम एव अन्तिम तीर्थंकर के अतिरिक्त 22 तीर्थंकरो के

समय मे प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य नही था। दोष लगने पर प्रतिक्रमण किया जाता था अत उनको दो प्रतिक्रमण करने का प्रसग ही नही आता।

इसके अलावा व्यावहारिक दृष्टिकोण से यदि चिन्तन किया जाय तो जिस समय जिसका शासन होता है उसी के नियमोपनियम पालन करने होते हैं। तदनुसार वर्तमान मे प्रभु महावीर का शासन चल रहा है अत. प्रभु महावीर के शासन मे दो प्रतिक्रमण करने का यदि किसी आगम मे उल्लेख आया हो तो वह मान्य किया जा सकता है पर किसी भी आगम मे दो प्रतिक्रमण का उल्लेख नही मिलता।

यद्यपि उपर्युक्त ज्ञाता धर्म के मूल पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि पथक जी ने दो प्रतिक्रमण नही किया था तथापि असत् कल्पना से कदाचित् यह मान भी लिया जाय कि पथक जी ने दो प्रतिक्रमण किया तो इतने मात्र से वह नियम वर्तमान साधको के लिये लागू नही हो सकता क्योकि 22 तीर्थ कर के साधको के नियमोपनियम अलग होते है और प्रथम एव अन्तिम तीर्थ कर के शासन मे विचरण करने वाले साधको के नियम मर्यादा जुदी होती हैं। अत उपर्युक्त आगम एव तर्क युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दो प्रतिक्रमण शास्त्र-सम्मत नही हैं।

इसके अतिरिक्त अजमेर स 1990 के वृहत् साधु सम्मेलन मे सर्वानुमति से प्रस्ताव पास हुआ था। उस सम्मेलन मे पडित रत्न स्व श्री समर्थमलजी म. सा स्वयं उपस्थित थे। वहा प्रतिक्रमण सम्बन्धी जो निर्णय हुआ वह इस प्रकार है—

साधु साध्वीओ ए मुनि प्रतिक्रमण देवसी, रायसी, पक्खी, चोमासी अने सवत्सरीनु एकज प्रतिक्रमण करवु, बे नही। अने कायोत्सर्ग देवसी रायी ना चार लोगस्स, पक्खीना आठ चौमासिक ना 12 अने सवत्सरी ना 20 लोगस्स आ प्रमाणे श्रावको ने वर्तवा माटे पण आ सम्मेलन भलावण करे छै, आ ठराव सर्वानुमते पास करेल है।

(मुनि सम्मेलन नो सक्षिप्त हेवाल)

तारीख 23 - 4 - 33 वार रविवार

तथा उसी प्रस्ताव को स 2009 सादडी सम्मेलन मे भी पुन सर्वानुमति मे स्वीकार किया गया। उसकी हूबहू नकल इस प्रकार है।

"श्री वर्धमान स्था. जैन श्रमण सघ के साधु-साध्वियों को देवसी रायसी, पक्खी, चौमासी सवत्सरी का एक ही प्रतिक्रमण करना चाहिये और कायोत्सर्ग

मे देवसी-रायमी को 4, पक्खी को 8, चौमासी को 12 और संवत्सरी को 20 लोगस्स का ध्यान करना चाहिये।"

आगमो मे पाच प्रकार का व्यवहार वतलाया गया है उसमे पाचवा जीत व्यवहार वतलाया है। उसका तात्पर्य यह है कि जिसका स्पप्ट उल्लेख आगम आदि मे उपलव्ध न हो तो उस समय के प्रमुख आचार्य, उपाध्याय, वहुश्रुत आदि मिलकर जो नियमोपानियम निधारित करें।

अत म 1990 के एव 2009 के सम्मेलन मे प्रतिक्रमण मे अथवा अन्य जो निर्णय हुए उसे जीत व्यवहार के अन्तर्गत मानते हुए वर्तमान साधको को उसी के अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिये।

दो प्रतिक्रमण करने मे विशेप विशुद्धि का जो तर्क दिया गया है वह भी योक्तिक नही है। अतिचारो की आलोचना, निंदा, गर्हा आदि शुद्ध मन से एक वार भी कर लेने से शुद्धिकरण होना मभावित है। यदि दो वार करने से अधिक शुद्धि का प्रमग हो तो प्रश्न होगा तीन या चार वार क्यो नही किया जाय।

किन्तु तीन या चार वार करना दो प्रतिक्रमण मे विशुद्धि मानने वाले पक्ष को भी म्वीकार नही होगा तथा प्रतिक्रमण का ममय एक मुहूर्त का वताया गया है।

एक मुहूर्त से अधिक समय लगने मे अतिचार लगने की सभावना रहती है जो कि दो प्रतिक्रमण करने से स्वाभाविक है।

अत उपर्युक्त आगम सगत तर्क युक्त विवेचन मे यह भली भाति सूर्यालोक-वत् स्पप्ट हो जाता है कि पक्खी आदि पर्व दिनो मे दो प्रतिक्रमण करना शास्त्र सम्मत नही है।

(24)

प्रश्न : स्थानकवासी समाज मे "इच्छामि खमासमणो" के पाठ मे वन्दना क्यो नहीं की जाती ? जबकि यह उत्कृष्ट वन्दन माना गया है।

उत्तर : स्थानकवासी समाज मे इच्छामि खमासमणो के पाठ से वन्दन किया जाता है पर हर समय नही क्योकि आगमो मे सामान्यतया वन्दना तिक्खुतो के पाठ से होने का चरितानुवाद विपुल मात्रा मे उपलव्ध है। अत सामान्य रूप से जव भी वन्दन करने का प्रसग आता है तब तिक्खुतो के पाठ से ही वन्दना की जाती है।

"इच्छामि खमासमणो" के पाठ से प्रतिक्रमण के समय तृतीय वन्दना आवश्यक मे एव उसके पश्चात् भी की जाती है । अतएव इच्छामि खमासमणो के पाठ से वन्दन करना राजमार्ग नही किन्तु विशिष्ट प्रसग का वन्दन है । तिक्खुतो के पाठ से वन्दन राजमार्ग है और वह विशिष्ट वन्दन के अतिरिक्त समय मे यथास्थान होता है

(25)

प्रश्न : क्या आचार्य पदवी जैन कुल मे जन्मे साधु को ही मिलती है अगर हा तो क्यो, क्या तीर्थ कर सभी जैन थे ?

उत्तर : वर्तमान प्रचलित जातीय दृष्टि से आचार्य पद के लिये यह आवश्यक नही कि वह जैन कुल का ही हो । जैन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव क्षुद्र सभी हो सकते है । आचार्य पद जो नमस्कार महामत्र के तृतीय पद मे गृहीत है उस पद के लिये यह आवश्यक है कि आचार्य पद जिसको दिया जाय वह जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न आदि से सम्पन्न होना चाहिए ।

वैसे भगवान महावीर के पाट पर प्रथम उत्तराधिकारी आचार्य श्री सुधर्मा स्वामी ब्राह्मण थे । द्वितीय उत्तराधिकारी वैश्य श्री जम्बू स्वामी थे । तृतीय आचर्य क्षत्रिय श्री प्रभव स्वामी थे । अत आचार्य पद की योग्यता एव जाति सम्पन्न, कुल सम्पन्न आदि गुणो से युक्त किसी भी वश मे उत्पन्न व्यक्ति को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है ।

सभी तीर्थ कर, तीर्थ कर अवस्था के पूर्व जैन ही थे । ऐसा उल्लेख नही मिलता । भगवान ऋषभदेव के पूर्व कोई जातीय वन्धन नही था । श्री ऋषभदेव भगवान ने जन समुदाय को कर्म भूमि के कर्तव्यो से सम्पन्न बनाया । उसके पश्चात् वर्ण व्यवस्था का सिलसिला चालू हुआ ।

(26)

प्रश्न : मृगा पुत्र को गौतम स्वामी भगवान् की आज्ञा लेकर (देखने) घर पहुचे और महारानी के साथ देखने के लिए तलघर के अन्दर गये । उस वक्त उनके साथ और कौन थे ? वर्णन तो ऐसा सुनने मे आया कि रानी के साथ गौतम स्वामी गये तो क्या साथ मे साक्षी रूप भाई नही था ?

उत्तर साधु चर्या के वर्णन मे भगवान् ने बतला दिया कि अकेला साधु अकेली बहिन व साध्वी से बिना भाई की साक्षी से वार्तालाप आदि न करे ।

अब यह आवश्यक नही कि प्रत्येक प्रासगिक कथन मे उसका उल्लेख किया ही जाय । वह साधु चर्या के अनुरूप स्वय को जान लेना चाहिये । गौतम

स्वामी स्वय सयमी मर्यादाओ मे पूर्ण सतर्क थे तथा अतिशय ज्ञान सम्पन्न थे। अत साथ मे भाई साक्षी रूप मे हो सकता है—क्योकि महल मे कुवजक दास (सेवक) इतस्तत घूमते ही रहते थे।

दूसरी बात यह है कि मृगा लोढा को बहुत भूख लगती थी। अत उसके खाने के लिये बहुत सामान ले जाना होता था जिसको रानी कैसे ले जा सकती है जब कि रानी को, नौकर चाकर गिलास को भी इधर उधर नही रखने देते। तब भोजन से भरी हुई गाडी रानी को ले जाने दे यह सभव कैसे हो सकता है ? उस गाडी को चलाने वाला कोई व्यक्ति जो कि रानी के साथ मे छाया की तरह रहता हुआ सेवा करता हो, उसका साथ मे होना सभव है, अत एकाकी रानी का तो कतई प्रसग उपस्थित नही होता।

जैसे राष्ट्रपति अथवा प्रधान मत्री के विदेश गमन के प्रसग मे व्यवहार मे यह कहा जाता है कि राष्ट्रपति अथवा प्रधान मत्री विदेश गये है। इस कथन मे जो राष्ट्रपति के विदेश गमन का कहा गया है तो क्या राष्ट्रपति/प्रधान मत्री अकेले विदेश गये। नही, यह सभव नही होता। उनके साथ उनका स्टाफ अवश्य होता है पर उन सब का कथन राष्ट्रपति/प्रधान मत्री के कथन मे अनुगर्भित हो जाता है वैसे ही महारानी के कथन मे उनके सहचर रूप दास-दासी का सग्रह हो जाता है।

(27)

प्रश्न : एक दिन के दीक्षित साधु को पचास साल की भी दीक्षित साध्वी वन्दना क्यो करती है ? ज्येष्ठ शब्द के अलावा और भी कोई प्रमाण है क्या ?

उत्तर आगम वाक्य गहनतम अर्थ से परिपूर्ण होता है। यह आवश्यक नही कि एक ही विषय के अनेक प्रमाण शास्त्रकार दे। फिर भी दीक्षा ज्येष्ठ के अतिरिक्त अन्य प्रमाण मिलते हैं। जैसा कि स्त्रीवेद का बध दूसरे गुणस्थान तक होता है, जब कि पुरुष वेद का बध नववे गुणस्थान तक हो सकता है। गुणस्थान की दृष्टि से दूसरे गुणस्थान की अपेक्षा नवम् गुणस्थान मे विशुद्धि अत्यधिक होती है। अत गुणस्थान की अपेक्षा भी पुरुष ज्येष्ठ सिद्ध होता है।

एक अन्य बात यह भी है, कि पुरुष वेद की काम वासना तृणाग्नि के समान शीघ्र ही उत्पन्न होकर पूर्ण हो जाती है जब कि स्त्रीवेद की करीषाग्नि के समान बहुत समय तक चलती रहती है। इससे भी पुरुष वेद की उत्कृष्टता द्योतित होती है। क्योकि पुरुष वेद मे मोह की स्वल्पता होती है। जिसका मोह स्वल्प होता है उसको गुणो की दृष्टि से बडा माना जाता है। इसी पुरुष वेद की प्रधानता के परिणामस्वरूप पूर्व जन्म मे पुरुष वेद का जो कर्म सचय हुआ उसी का प्रतीक वर्तमान का पुरुष शरीर है। अत आगमिक दृष्टि एव गुणो की अपेक्षा से पुरुष ज्येष्ठता सिद्ध होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी पद से ज्येष्ठ माना जाता है जेसे एक पुत्र की आयु 50 वर्ष की है और पुत्र वधू की आयु 45 वर्ष की है। पुत्र वधू ने स्वल्प वय से ही धर्म ध्यान आदि श्राविका के गुणो को जीवन मे उतार रखा है। 30 वर्ष की अवस्था मे जोडे ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा है। उसके स्वसुर ने दूसरी शादी की, जिसके साथ शादी की वह 18 वर्ष की कन्या है। धर्म ध्यान तो दूर रहा—लेकिन मानवीय सस्कार भी पूरे नही हैं। वैसी उस 18 वर्षीय सासू को वह 45 वर्षीय गुणवान पुत्र वधू नमस्कार करती है। क्योकि उस कन्या का पद सासू का है।

इसी प्रकार राष्ट्रपति पद पर 35 वर्ष का नवयुवक हो तो वह सबसे बडा एव सबका आदरणीय होगा। यह गरिमा उसके पद के साथ है। इसी प्रकार पुरुष एक दिन का दीक्षित भी हो फिर भी उपरोक्त प्रमाणो के कारण तथा पुरुष ज्येष्ठता से, चाहे 50 वर्षीय प्रवजित साध्वी भी क्यों न हो वह साध्वी उस साधु को वन्दन करती है। यह सब पूर्व-कर्मोपार्जित पिण्ड (शरीर) को लेकर कथन है। जहा पिण्ड रूप शरीर गौण है। भाव प्रधान है, वहा भावो की दृष्टि से पाचवे भाव वन्दन मे सभी सब को वन्दन करते हैं।

(28)

प्रश्न : आचार्य श्री को 1008, सतो को 1007 एव साध्वी को 1005 क्यो लगाया जाता है?

उत्तर : तीर्थंकर देव चतुर्विध सघ की स्थापना करते हैं। तीर्थंकर देवो के निर्वाण हो जाने पर उस चतुर्विध सघ की सारणा वारणा करने का उत्तरदायित्व आचार्य पर आ जाता है। पूर्व के आचार्य पद के योग्य साधु को चतुर्विध सघ के समक्ष आचार्य पद पर आरूढ कर देते है। इस प्रकार आचार्य परम्परा चलती रहती है। जिसको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है उसमे चतुर्विध सघ का प्रतिनिधित्व होता है तथा तीर्थंकरो द्वारा प्रदत श्रमण सस्कृति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी होता है।

जिससे यद्यपि आचार्य तीर्थंकर के सदृश नही होते हुए भी उनको उपचार से तीर्थंकर के समान कहा जाता है। "यथा तित्थयरो समो सूरी" वैसे ही तीर्थंकरो मे 1008 शुभ लक्षण भी होते हैं जैसा कि कहा है —

"अट्ठसहस्स लक्खण धरो"

उन 1008 लक्षण जो तीर्थंकरो मे होते है। उनका उपचार से आचार्य मे भी समावेश किया जाता है। जैसे कि उपचार से आचार्य को तीर्थंकर के

समान कहा गया है। अत उक्त विधि से आचार्य के 1008 का विशेषण लगाया जाता है। आचार्य की अपेक्षा मुनियो के कुछ कम होना चाहिए तथा मुनियो मे साध्वियो को कम लगना चाहिए। अत परम्परा से मुनियो के 1007 एव महासती के 1005 विशेषण लगाया जाता है।

(29)

प्रश्न : इलेक्ट्रोनिक घडी वाले द्वारा चरण स्पर्श करने पर क्या करना ? उसे असुजती मानना या नहीं, मानना तो क्या प्रतिदिन प्रायश्चित लेना ?

उत्तर : इलेक्ट्रोनिक घडी वाला व्यक्ति चरण स्पर्श करे और सतो को ज्ञात हो जाय तो उसे ध्यान दिला देना चाहिए कि इलेक्ट्रोनिक घडी रहते हुए चरण स्पर्श नही करे। इलेक्ट्रोनिक घडी जिस समय चल रही हो उस समय उसे असुजता मानना चाहिए।

इलेक्ट्रोनिक घडी चालू रहते हुए यदि चरण स्पर्श किया हो तो उसके ज्ञात होने पर प्रायश्चित लेना चाहिए।

(30)

प्रश्न : विद्युत (करन्ट) मात्र को सचित्त कैसे माना जाय ? क्योकि उसमे तो ज्योति नही होती है, जो कि अग्निकाय का लक्षण है।

उत्तर : विद्युत का जो प्रवाह प्रवाहित है, उसे विद्युत का प्रवाह कहा जाता है, उसमे सघर्ष समुत्थिए अवस्था विद्यमान है। उसको कोई छूता है तो उसका झटका लगता है। यदा-कदा उसका प्राणान्त भी सभव है। अत: विद्युत सम्बन्धित धर्म विद्यमान है। पर प्रकाशित होने का माध्यम जहा होता है वही उसका प्रकाश प्रकट रूप से ज्ञात होता है। बीच मे प्रकट होने का माध्यम नही होने से वह विद्युत का प्रकाश नही दिखता। किन्तु इतने मात्र से विद्युत प्रवाह नहीं है, ऐसा कैसे कह सकते है।

(31)

प्रश्न : बैटरी सेल को अचित्त माना जाता है, जब कि उसमे मसाला (करन्ट) होता है, तो फिर सेल से चलने वाले यन्त्र जिनमे बल्ब आदि नही जलते है, सचित्त कैसे होंगे ?

उत्तर : बैटरी के सेल मे मसाला होता है, पर विद्युत प्रवाह की तरह सतत प्रवाहित नही होने से करन्ट कैसे कहा जायेगा, बैटरी चालू करने पर ही

करन्ट का प्रवाह चालू होता है, वन्द होने पर सघर्ष रूप अवस्था न होने मे विद्युत प्रवाह रुक जाता है अत सगटा नही लगता, पर वल्व के अभाव मे भी यदि विद्युत प्रवाह रूप करन्ट चालू हो तो सस्पर्श नही किया जा सकता ।

(32)

प्रश्न : पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, सचित्त, अचित्त और मिश्र भी होती है । फिर लाउड स्पीकर उपयोग मे लेने वाले किस अपेक्षा से लेते हैं ?

उत्तर . लाउड स्पीकर उपयोग करने वाले प्राय सचित्त तेऊ का प्रयोग मानकर उपयोग करते है । अचित्त एव मिश्र मानकर नही । क्योकि यदि अचित्त मानकर उपयोग करे तो फिर दण्ड किस दोप का ग्रहण करते हे । लाउड स्पीकर मे वोलने के फलस्रूप दण्ड स्वीकार करते है । दण्ड दोष लगने पर लिया जाता है । अत. सचित्त तेऊ काय का प्रयोग मानकर उपयोग करते है ।

(33)

प्रश्न : उपाचार्य श्री 1008 श्री गणेशीलालजी मा सा ने श्रमण सघ मे रहते हुए ध्वनि वर्धक यन्त्र मे कोई वोले तो क्या कोई उदण्ड का विधान किया ?

उत्तर ' सभी उपाध्याय एव मुनिवरो की अनुमति को हूवहू पक्तियो का उल्लेख करते हुए उपाचार्य श्री जी ने निर्णय दिया कि भीनासर सम्मेलन मे एतद् विपयक कृत प्रस्ताव मे मुनिधर्म का अपवादादि का निर्णय न हो जाय तव तक यदि कोई ध्वनि वर्धक यत्र मे वोलेगा तो वह स्वच्छन्द समझा जायेगा और उस स्वच्छन्दता का दीक्षा छेद प्रायश्चित दिया जायेगा ।

(34)

प्रश्न : सन सती वर्ग माइक पर क्यो नही वोल सकते ? जिसके लिए निम्न तर्क है :—

1. हरी लिलोतरी पर सन वर्ग का चलना निपेध है, किन्तु दिशा मैदान जाते हुए या अन्य कार्य मे जाते हुए हरी लिलोतरी का मैदान हो, उसमे एक सकडी सी पगडण्डी हो, सामने से भागती हुई गाय आ रही है, तो पगडण्डी से हटकर सत सती वर्ग को भी हरी घास पर कदम रखना पडता है, जो कि निपिद्ध है, किन्तु अपवाद स्वरूप रखना पडना है, तो अपवाद स्वरूप माइक का प्रयोग क्यो नही मान्य हो ?

2 दवाई, ऑपरेशन वगैरह का भी निपेध है, किन्तु उसका प्रयोग-उपयोग अपवाद स्वरूप होना है, फिर माइक क्यो नही ?

3 चश्मे का भी निषेध है, किन्तु आख की कमजोरी को दूर करने के लिये अपवाद स्वरूप उपयोग होता है, फिर विशाल समुदाय के कान तक नहीं पहुँचने वाली आवाज को उन तक पहुँचाने के लिये माइक का प्रयोग क्यो नही ?

4 श्रद्धालु जन सतो के प्रवचन श्रवण हेतु काफी दूरी तय करके आते है, किन्तु उन्हे मनोरथ सिद्धि नही होती इससे खीज कर वे दु खी होते है, या युवा वर्ग अश्रव्य प्रवचन स्थल को छोडकर सिनेमा या अन्य स्थल की ओर भी जा सकता है । ऐसी परिस्थिति मे क्या सत-सती वर्ग को आवागमन की व्यर्थता के कारण दोष का भागी नही होना पडेगा ? क्या सिनेमा आदि स्थलो पर गये युवक के हीन कर्मो मे सत-सती वर्ग का निमित्त नही कहलायेगा ?

उत्तर · सकडी पगडण्डी पर चलते हुए सामने गाय आदि के आ जाने पर हरी लिलोतरी पर चलने का, दवा, ऑपरेशन आदि चिकित्सा लेने का, चश्मा का नम्बर निकलवाने एव बनाने आदि के जो प्रसग है वे अपवाद स्वरूप मार्ग है । ध्वनिवर्धक यत्र के साथ इन तर्को का सम्बन्ध जोडने मे यह आवश्यक हो जाता है कि पहले अपवाद तथा उत्सर्ग को समझा जाय ।

उत्सर्ग —राजमार्ग को उत्सर्ग कहते है, जैसे पच महाव्रत, तीन गुप्ति, आदि ।

अपवाद —"उत्सर्गात् परिभ्रष्टस्य अपवाद गमन" उत्सर्ग मार्ग से जब गिरने का प्रसग आता है तब अपवाद मार्ग मे प्रवृत्ति-गमन होता है ।

जैसे थोडी-थोडी वर्षा बरस रही हो, तो उसमे भिक्षा चर्या के लिए सन्त-सती नही जा सकते, यह उत्सर्ग मार्ग है, पर इसका अपवाद मार्ग भगवान ने बतलाया कि चाहे जोरदार वर्षा बरस रही हो, किन्तु लघु शका या दीर्घ शका आ जाय, तो उस जोरदार वर्षा मे भी उसके निवारणार्थ प्रवृत्ति/गमन करें ।

उत्सर्ग और अपवाद एक ही मार्ग के लिए लागू होते है । सयम मार्ग की आराधना का जो राजमार्ग है—वह उत्सर्ग है, पर वही सयमी जीवन जब खतरे मे पडता है तब उसके लिए अपवाद मे गमन होता है ।

प्रश्न मे जो भी तर्क उपस्थित की गई है वे सब सयमी जीवन के खतरे मे पडने पर अपवाद मार्ग मे ग्रहण करने की है ।

श्रोताओ को सुनाने की दृष्टि से ध्वनि वर्धक यन्त्र मे बोलना उस अपवाद मे गृहीत नही होता क्योकि कदाचित् कोई साधक नही बोलकर मौन रखता है, तो उससे सयमी जीवन को कोई खतरा नही आता, बल्कि मौन साधना

मे सयमी जीवन मे निखार आता है। किन्तु यदि अस्वस्थ है और उपचार नही करवाता है तो उससे सयमी जीवन को खतरा पैदा हो जाना सम्भव है। साधु जीवन का मुख्य उद्देश्य उपदेश देने का नही है। उसका मुख्य उद्देश्य आत्म-साधना करना है। आत्म-साधना करते हुए अपनी मर्यादाओ मे रहता हुआ जितना परोपकार, उपदेश आदि कर सकता हो करे, पर महाव्रतो मे दोष लगाकर नही। अत उत्सर्ग मे तो श्रोताओ को सुनाने की दृष्टि से ध्वनि वर्धक यन्त्र का प्रयोग वाछनीय हो ही नही सकता, किन्तु अधिक व्यक्तियो को सुनाने के लिए अपवाद मार्ग भी लागू नही होता।

नेत्र की रोशनी के विना सयम साधना भली-भाति सध नही सकती। जिससे सयमी जीवन खतरे मे पड सकता है। अतएव सयम की सुरक्षा हेतु चश्मे का अपवाद वनता है, न कि माइक का।

चौथी तर्क पर भी आप चिन्तन करे। मान लीजिए आपने सामायिक ले रखी है अथवा जैन धर्म को सत्य यथार्थ मानकर चल रहे है। एक व्यक्ति आपके पास आता है और वह आपको कहता है कि आप सामायिक छोड दीजिए अथवा जैन धर्म को असत्य अयथार्थ मानिए नही तो मैं चोरी करु गा, व्यभिचार करु गा आदि, उस समय आप क्या करेंगे ?

क्या आप सामायिक छोड देंगे अथवा जैन धर्म को असत्य अयथार्थ स्वीकार करेंगे ? सम्भव है आपका उत्तर रहेगा, नही। तब आपके सामायिक नही छोडने मे अथवा जैन धर्म को असत्य/अयथार्थ नही कहने से वह अन्य व्यक्ति यदि चोरी करता है, व्यभिचार सेवन करता है तो क्या उसका पाप भी आपको लगेगा ? नही ! उसका पाप आपको नही लगेगा, क्योंकि आपकी भावना यह नही है कि वह व्यक्ति चोरी अथवा व्यभिचार का सेवन करे, अत. जव आपकी भावना नही है तो आपको पाप कैसे लग सकता है ?

इसी प्रकार सन्त-सती वर्ग के स्थान मे निकल कर कोई व्यक्ति सिनेमा आदि स्थलो पर चला जाता है तो उसका पाप दोष सन्त-सती वर्ग को नही लगता और न ही वे उसके निमित्त ही माने जा सकते। यदि कदाचित् यह माना जाय कि सन्त-सती वर्ग के ध्वनि वर्धक यन्त्र मे नही बोलने से युवाओं का सिनेमा आदि स्थलो पर जाने मे सन्त-सती वर्ग निमित्त है, तो कभी ऐसा भी प्रसग आ सकता है कि कोई भाई सन्त-महात्माओं को कह सकता है आप महाव्रत छोड दीजिए अन्यथा मैं कत्लखाना खोल कर अनेक पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करु गा तो क्या वैसी स्थिति मे सन्त-सती वर्ग को महाव्रत छोडकर गृहस्थ वन जाना चाहिए ? नही, ऐसे प्रसगो पर सामने वाले व्यक्ति को समझाया जा सकता है। कदाचित् समझाने पर भी वह नही माने तो उसके

कृत्यों का दुष्परिणाम उसी को भोगना पड़ता है, न कि सन्तो को । वैसे ही सन्त-सती वर्ग के माइक पर नही बोलने से कोई व्यक्ति अन्यथा प्रवृत्ति करता है तो उसका पाप दोष भी सन्त-सती वर्ग को नही लग सकता ।

(35)

प्रश्न : जब श्रमण वर्ग के प्रवचन आदि की पुस्तकें प्रेस मे छपाई जाती हैं, तो प्रवचन आदि टेप क्यो नही कर सकते, क्योंकि आखिर प्रेस भी तो बिजली से ही चलते हैं, फिर टेप करने मे क्या आपत्ति है ?

उत्तर . सन्त-सती वर्ग के व्याख्यान स्थल एव ठहरने के स्थल मे एकेन्द्रिय जीव यथा बादर तेऊ काय, कच्ची वनस्पति अनाज एव सचित्त आदि पदार्थ कुछ भी बिना ताले के खुले पडे हुए हो तो इन सचित्त पदार्थों के रहते हुए सन्त-सती वर्ग को मुखे समाव वहा ठहरना नही कल्पता । सचित्त पदार्थों का उपमर्दन भी वहा नही होना चाहिए । इसीलिए शास्त्रकारो ने पाच अभिगम का निर्देश दिया है । सचित्त-अचित्त के विवेक सम्बन्धी उन अभिगमो का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रकारो ने कहा है—फूल, माला, इलायची आदि सचित्त पदार्थ सहित श्रावक समवसरण मे प्रवेश नही करे । उसका परित्याग करके समवसरण मे श्रावकगण के प्रवेश की विधि है क्योकि उन लोगो के द्वारा भगवान व सन्तो के चरण स्पर्श न करने पर भी उस स्थल पर उन एकेन्द्रिय प्राणियो का भी उपमर्दन शास्त्रकारो ने योग्य नही माना इसलिए उसका निषेध किया । सम्राटादि चतुरगी सेना सजा करके दर्शनार्थ पहुचते उसमे हिसादि कार्य होते थे पर ये समवसरण के बाहर ही । सचित्तादि पदार्थ वे बाहर ही छोड देते थे ।

तीर्थंकर प्रभु यह जानते थे कि ये सब दर्शनार्थ ही आ रहे है । इनके द्वारा आरम्भजा हिसा भी हो रही है फिर भी वह समवसरण की सीमा के अन्तर्गत न होने से तीर्थंकर देव ने उनका निषेध नही किया ।

व्याख्यान स्थल पर सन्तो के समीप मे बैठ कर निर्जीव साधनो से कोई व्याख्यान नोट करे या प्रश्नोत्तर आदि का आलेखन करे, उसके लिए यह निषेध नही है, किन्तु व्याख्यान स्थल पर एव सन्तो के समक्ष विद्युत आदि साधनो से टेप आदि करना निषिद्ध है, क्योकि विद्युत-बादर तेऊ काय के जीव है । वह असख्य जीवो का पिण्ड है । इससे षट्काय जीवो का उपमर्दन हो जाता है । अतएव अहिसा की परिपालना करने वाले साधक के सामने इस प्रकार का सावद्य कार्य नहीं हो सकता । साधु की समीपता एव व्याख्यान स्थल से दूर बाहर जाने के पश्चात् श्रावक निरवद्य साधनों से, आलेखन का तत्पश्चात् टेप करे या प्रिण्ट यह उस पर निर्भर है, साधु का सम्बन्ध उससे नही जुडता ।

यदि साधु अपनी सीमा से सावद्य कार्यों मे, साधु मर्यादा को छोडकर भाग लेता हो, प्रूफ सशोधन आदि कार्य स्वय के हाथो से सम्पन्न करता हो तो उसमे दोष की सम्भावना रहती है । गृहस्थ ने जो लिखा है वह शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध है या अशुद्ध ? यह साधु बता सकता है । शुद्धि-अशुद्धि बता देने से साधु की सीमा (धर्म स्थान एव व्याख्यान स्थल) से दूर बाहर होने वाला आरम्भ का दोष साधु को नही लग सकता, जैसा कि समवसरण के बाहर का आरम्भ भगवान को नही लगता । अतएव साधु के समक्ष या व्याख्यान मे आरम्भ जनित साधनो का प्रयोग योग्य नही ।

(36)

प्रश्न : 22वें तीर्थंकर के साधु औद्देशिक आहार ले सकते है ?

उत्तर भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के साधुओ के अतिरिक्त तीर्थंकरो के समय के साधुओ को औद्देशिक आहार ग्रहण करने का निषेध नही था अर्थात् औद्देशिक आहार आवश्यकतानुसार ग्रहण कर सकते है ।

(37)

प्रश्न : आजकल सत-सतियाजी का साहित्य भी प्रचुर मात्रा मे प्रकाशित होने लगा है । जो साधु-साध्वी लाउडस्पीकर मे तो इसलिये नही बोलते कि उन्हे अग्नि के जीवो का आरम्भ लगेगा, तो क्या उन्हे पुस्तक-प्रकाशन करवाने से होने वाली हिंसा का पाप नही लगेगा ?

उत्तर . प्रश्न युगानुकूल है और सभी के लिये समझने जैसा है । साधु के लिये पच-महाव्रतो का पालन सर्व प्रथम अनिवार्य है। साधक सयमीय मर्यादाओ मे रहता हुआ ही जन जागरण कर सकता है। साधु मर्यादा से विपरीत कार्य करना साधु के लिये सर्वथा अकल्पनीय है ।

लाउडस्पीकर का उपयोग करने से इससे होने वाली हिंसा का साक्षात् सम्बन्ध उपयोग करने वाले से होता है । इसलिए महाव्रत धारी सत-सती वर्ग को उसका उपयोग करना उचित नही है ।

जहा तक साहित्य प्रकाशन का प्रश्न है, प्रकाशन कार्य मे भी इलेक्ट्रिक-अग्नि आदि से जीवों की हिंसा होती हे, अत साधु प्रकाशन के कार्यो मे भाग नही ले सकता । साहित्य प्रकाशन ही क्यो ? साधु को किसी भी सावद्य प्रवृत्ति मे भाग नही लेना चाहिये ।

अभी आगमो की व्याख्या लिखवाने का जो काम चल रहा है वह मुख्य

रूप से सत-सती वर्ग के आग्रह पर प्रारम्भ करवाया गया है क्योकि साधु-साध्वी वर्ग जब आगमो का अध्ययन कर रहे थे, उस समय राणावास चातुर्मास मे जब मैंने सूत्र सस्पर्शी व्याख्याए उन्हे समझाई तो उन सभी का यह आग्रह रहा कि आप इन्हे लिखवा दीजिये। क्योकि एक तो हमारी बुद्धि इतनी तेज नही कि जैसा आप कहे वैसा एक ही बार मे अवधारण कर लें। दूसरी बात हमे समझाना ही पर्याप्त नही होगा, साधु-साध्वी का विशाल समूह है, उन्हे भी तो समझाना है और वे सब आपश्री से समझें—यह सभव नही है। क्योकि न तो आपके पास इतना समय है और न ही सभी को आपकी सन्निधि का सयोग ही मिल पाता है।

साधु-साध्वी वर्ग की इस भावना को लक्ष्य मे रख कर शास्त्र लेखन का कार्य प्रारम्भ किया गया जो अभी भी गतिशील है। इसका ध्येय यह है कि चतुर्विध सघ की अवधारणा सम्यक् रूप से हो।

आगम विवेचना के अतिरिक्त जो लेखन हो रहा है इसमे भी लक्ष्य चतुर्विध सघ की सम्यक् अवधारणा का रहा हुआ है। कदाचित् किसीको यह शका उठती हो कि सत-सती वर्ग के नाम से उसका प्रकाशन क्यो हो तो उसका समाधान यह है कि जो कार्य जिसने किया है उस पर यदि उसका नाम न आकर अन्य किसी का नाम आता है तो वह उपयुक्त नही है।

अत साधनावस्था मे चलते हुए साधक को जो अनुभूतिया होती है अथवा जो चिन्तन उभरते हैं उनको वे लिपिवद्ध कर लेते हैं। वे मौलिक चिन्तन गद्य एव पद्य उभय रूप मे हो सकते हैं। इनका जब सग्रह हो जाता है तो वे अनुशास्ता को समर्पित कर देते हैं। अनुशास्ता के माध्यम से कई सत-सती भी उनसे लाभान्वित होते रहते हैं किन्तु साधु जीवन मे जब आवश्यकता से अधिक पुस्तकादि सामग्री, जिनकी अब कोई आवश्यकता परिज्ञात नही होती, तब उस सामग्री को अपनी नेश्राय छोड़कर व्यवस्थित स्थान पर प्रस्थापित कर दी (परठ दी) जाती है ताकि ज्ञान का साधन होने से कोई भी जिज्ञासु लाभ उठाना चाहे तो उठा सके। जैसा कि पूर्व के आचार्यो आदि द्वारा आगमो पर लिखित टीका आदि सामग्री व्यवस्थित स्थान पर सुरक्षित होने से वर्तमान के जिज्ञासु उनका लाभ उठाते हैं।

हा, इस प्रस्थापित सामग्री मे से श्रावक वर्ग उस समय किस सग्रह की उपयोगिता महसूस करे और उसे किस रूप मे जनता के समक्ष प्रस्तुत करे, यह उनका कार्य क्षेत्र है। इसमे सत-सती वर्ग को भाग नही लेना चाहिए। इसमे यदि सत-सती वर्ग भाग लेते है तो वे जितना भाग लेगे उतना दोष व सम्बन्ध उनके साथ जुड सकता है पर यह केवल प्रकाशन से ही सम्बन्धित नही है।

प्रकाशन के अतिरिक्त भी साधु-साध्वी अगर किसी भी सावद्य कार्य मे भाग लेते है तो उस कार्य मे होने वाली सावद्य क्रिया का सम्बन्ध उन सत-सती वर्ग के साथ अवश्य सयुक्त होता है । पर जो सावद्य कार्यो मे भाग नही लेते हैं उनके साथ सावद्य क्रिया का सभाग सयुक्त नही होता ।

कई लोगो का यह तर्क रहता है कि जब आपको यह ज्ञात है कि यह श्रावक जो प्रतिलिपि उतार रहा है, वह उसका प्रकाशन करेगा तो फिर आप उसे मना क्यो नही कर देते । यदि आप मना नही करते हैं, तो क्या आपको अनुमोदन दोष नही लगेगा ?

नही । क्योकि शास्त्रीय दृष्टिकोण यह है कि उसकी सीमा के वाहर जिस कार्य मे पुण्य भी हो, पाप भी हो, हिंसा भी हो, रक्षा भी हो तो ऐसे कार्यों मे साधु हाँ या ना कुछ नही कह सकता ।

जैसा कि राज प्रश्नीय सूत्र मे वर्णन आता है कि प्रदेशी राजा जव केशी अनगार से प्रतिवोधित होकर श्रावक बनता है तब केशी अनगार उनको कहते है कि अव तुम रमणिक वन गये हो वापस अरमणिक मत वनना तब—प्रदेशी राजा ने निवेदन किया—

भगवन् ! अव तक मै राज्य की आमदनी के तीन ही भाग करता था अव चार भाग करूगा । उसमे से एक भाग से वहुत वडी भोजन शाला चलाऊगा । जिससे दीन-हीन आदि को भोजन मिल सके ।

यह सुनकर केशी अनगार कुछ नही वोले । उन्होने यह नही कहा कि अरे तुम यह क्या कर रहे हो ? इतनी वडी भोजन शाला चलाने से न मालूम कितने जीव मरेगे । क्योकि ऐसा कहने पर भोजन करने वाले दीन हीन जीवो को अन्तराय लगती है, जो योग्य नही है । और यह भी नही कहा कि तुम्हे भोजनशाला चलानी चाहिये । क्योकि ऐसा कहने पर भोजन पकाने मे होने वाले जीवो की हिंसा का आरम्भ कहने वाले को भी लगता है । अत केशी अनगार मौन रहे । वैसे ही कोई यह कहे कि मुझे पानी की प्याऊ लगानी है तो साधु उस पर भी हा-ना कुछ नही कहेगा । इसी परिप्रेक्ष्य मे यदि कोई गृहस्थ सतो की नेश्राय से विलग की हुई सामग्री मे से किसी की प्रतिलिपि उतार कर उसे जनहितार्थ उपयोग मे लेता है तो साधु उसे शास्त्रीय दृष्टि से हा या ना कुछ नही कह सकता । हा कहने पर प्रकाशन की हिंसा का दोष लगता है । ना कहने पर जिज्ञासुओ की ज्ञान-तृप्ति मे वहुत वडी अन्तराय लगती है, अत इस विषय मे माध्यस्थ भाव रखना चाहिये ।

कइयो की यह तर्क भी रहती है कि साधु-साध्वी लेखन को ही क्यो

करते हैं ? उसके पीछे उनकी प्रकाशन की भावना होती होगी। किन्तु तथ्य यह नही है। किसी भी विषय मे कुछ भी लिखने का मुख्य उद्देश्य पहले स्वय का विकास करना होता है, उसके बाद गौण रूप से चतुर्विध सघ की कल्याण भावना भी उसमे निहित रह सकती है क्योकि वह भी उस सघ का एक मूल अग है किन्तु इतने मात्र से उसको प्रकाशन का सहभागी नही माना जा सकता।

यदि ऐसा सोचा जाय कि भविष्य मे इसका कोई उपयोग कर लेगा, इसलिये लिखा ही न जाय तो यह सोचना भी शास्त्रानुकूल नही। क्योकि जब कोई साधु बनता है तो उसके दर्शन के लिये लोग हजारो मील दूर से भी आते हैं उसमे हिंसा होती है तो फिर उस व्यक्ति को साधु ही नही बनना चाहिए जिससे वे लोग दर्शनार्थ आवें ही नही। किन्तु ऐसा सोचना उपयुक्त नही है। भगवान् महावीर यदि दशार्णभद्र राजा के नगर मे नही जाते तो वे उनके दर्शन के लिये चतुरगिणी सेना सजाकर नही आते। और उससे हुई जीवो की हिंसा भी बच जाती तो फिर भगवान् को वहा जाना ही नही चाहिये था।

लेकिन ऐसा नही होता है। भगवान् तो जनहित की भावना मे विचरण करते थे, कोई भी किसी भी रूप मे आवे तो उसका दोष उन्हें नही लगता। साथ ही भगवान् ने दशार्णभद्र राजा को मना भी नही किया कि देवानुप्रिय ! ऐसा मत करो, इसमे जीवो की हिंसा होती है। दर्शन करने आना है तो ऐसे ही आ सकते हो। हाथी, घोडे क्यो लाते हो, इससे जीवो की हिंसा होगी लेकिन ऐसा कुछ नही कहा। क्योकि जहा शासन की प्रभावना भी हो और जीव हिंसा भी हो तो साधु के लिये वहा माध्यस्थ रहना बतलाया है। इतने मात्र से यह तो नही कहा जा सकता कि भगवान् की यह इच्छा होगी, इसीलिये वे वहा पधारे और दशार्णभद्र राजा को मना भी नही किया। यदि ऐसा माना जाय तो फिर भगवान् की मुक्ति ही कैसे होती ? अत स्पष्ट है कि भगवान् महावीर यह जानते हुए भी कि दशार्णभद्र राजा इस रूप मे आएगा तो भी उसके नगर मे पधारे, वह इसलिए नही कि वह इस रूप मे आवे किन्तु इसलिये कि वहा जाने से जनकल्याण होगा।

वैसे ही यदि साधु-साध्वी वर्ग कोई भी लेखन कार्य करते हैं उनका यह निश्चय नही होता कि उसका प्रकाशन होगा ही, क्योकि यह गृहस्थो का कार्य क्षेत्र है। हा यदि कोई साधु इन प्रकाशन के आरम्भ जनक कार्यों मे पड़ता है तो उसे दोष लगता है। लेकिन साधु-साध्वी के लेखन की कोई पुस्तक प्रकाशित हो जाने मात्र से उन्हे दोष लग गया यह मान लेना उचित नही है।

एक बात और है कि जिस प्रकार मृत्यु के समय सलेखना सथारा करने के साथ ही उस शरीर को वोसरा देने के बाद शरीर को जलाने मे लगने वाली

क्रिया साधु को नही लगती । वैसे ही साधु ने जो कुछ लेखन सामग्री तैयार की इसे अपनी नेश्राय से छोडने पर श्रावक उसका क्या उपयोग करता है क्या नही, तत्सम्बन्धी क्रिया साधु को नही लगती । शरीर को वोसरा देने पर भी यदि साधु की भावना यह रह जाय कि मेरे शरीर को बैकुण्ठी मे घुमाया जाय, चन्दन के काष्ठो पर चिता शयन हो तो उसे उसका दोष लगेगा । इसी प्रकार यदि साधु किसी भी प्रकार की लेखन सामग्री के तैयार करने पर यह सोचे कि इसका प्रकाशन हो और वह ऐसा हो, वैसा हो, श्रावको को इस विषय मे सावद्य निर्देशन देवे, लिखे कोई और, और पुस्तक स्वय के नाम से करवाए, प्रकाशन के लिये पैसा इकट्ठा करवाए, उसका विमोचन करवाने, राजनेताओ को बुलावे, आमन्त्रण कार्ड छपवाए, आदि कार्यों मे भाग लेता है तो उसे निश्चित् ही दोष लगेगा । पर प्रकाशन आदि किसी भी सावद्य कार्य मे भाग नही लेता तो उसे तत्सम्बन्धी कोई दोष नही लगता ।

क्रान्त दृष्टा, ज्योतिर्धर स्व जवाहराचार्य ने इन सभी विषयो को जिस सैद्धान्तिक धरातल पर प्रस्तुत किया है, तदनुसार ही सघ की मर्यादा अक्षुण्ण गतिशील है । अत उसमे किसी भी प्रकार के दोषावकाश की स्थिति नही रहती ।

(38)

प्रश्न : सिद्ध भगवान मे चरित्र होता है या नही ?

उत्तर : स्वरूप रमण रूप अनन्त चरित्र सिद्ध भगवान् मे होता है । किन्तु शरीर से मुख्यतया सम्बन्धित सामायिक आदि सख्या रूप चरित्र नही होते ।

चरित्र का सम्बन्ध मोह कर्म के क्षय से रहा हुआ है । जैसे मिथ्यात्वादि प्रकृतियो का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है । वैसे ही चारित्र मोह कर्म की प्रकृतियो का समूल नष्ट होने से चारित्र मोह कर्म से आवृत आत्मिक गुण क्षायिक चरित्र प्रकट होता है । क्षायिक चरित्र का तात्पर्य है आत्म, प्रदेशो का स्वच्छ एव स्थिर हो जाना—स्व स्वरूप मे रमण करना । ऐसा क्षायिक चरित्र सिद्धो मे भी होता है । श्री यशोविजयजी ने भी अपने ज्ञान सागर मे कहा है यथा :—

चारित्र स्थिरतारूप यत सिद्धेष्वपीष्यते

(यशोविजय, ज्ञान सागर 3/8)

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी के सामायिक सूत्र मे भी इस विषयक उल्लेख मिलता है यथा —

आत्म भाव मे स्थिर होने वाले चारित्र से ही मोक्ष मिलता है यह जैन-तत्त्व ज्ञान का प्रत्येक अभ्यासी जानता है। इतना ही नही, समता यानी आत्मस्थिरता रूप चारित्र तो सिद्धो मे भी होता है । सिद्धो मे स्थूल क्रिया-काण्ड रूप चारित्र नहीं होता, परन्तु आत्म स्थिरता रूप निश्चय चारित्र तो वहा भी आगम सम्मत है। चारित्र आत्म विकास रूप एक गुण है अत. उसके अभाव मे सिद्धत्व सिवा शून्य के और कुछ नही रहेगा।

—सामायिक सूत्र (पृष्ठ 61)

(39)

प्रश्न : साधु सन्त अगर किसी के शरीर मे प्रेतात्मा (भूत, डाकण) आदि निकालते है तो यह उचित है या अनुचित ? अगर अनुचित है तो क्या साधु को किसी प्रकार का दोष लगता है ?

उत्तर : वीतराग उपदिष्ट महाव्रतो को स्वीकार कर चलने वाले साधु को प्रेतात्मा आदि को भगाने हेतु अथवा आह्वान करने हेतु तत्र मत्र आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से श्रमण जीवन मे कई प्रकार के दोषो की सभावना रहती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे इस प्रकार की प्रक्रिया करने वाले साधक को श्रमण नही कहा है। यथा :—

जे लक्खण य सुविण, अगविज्ज य जे पउजति ।
णहुते समणा वुच्चति, एव आयरिएहि अक्खाय ।।

उत्तरा० 8/13

जो स्त्री पुरुषो के शुभाशुभ लक्षण बताने वाली लक्षण विद्या का और स्वप्न का शुभाशुभ फल बताने वाली स्वप्न विद्या का और अग-उपाग के स्फुरण यानी फडकने का फल बताने वाली अग विद्या का प्रयोग करते हैं वे निश्चय ही साधु नही कहलाते है, इस प्रकार आचार्यो ने फरमाया है।

अत जब साधु अग विद्या आदि का भी प्रयोग नही कर सकते तो भूत-प्रेत आदि को निकालने की प्रक्रिया कर ही कैसे सकते हैं ? उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन 14 की 7/8 गाथा मे तथा 20/45 मे भी इस विषय का निर्देश दिया है।

(40)

प्रश्न . जैनागम से भिन्न व्याकरण आदि पढ़े तो मिथ्यात्व दोष लगता है क्या ?

उत्तर · सम्यक्त्वी आत्मा जैनागम का मर्म समझने की अभिलाषा वाला होता है । आगम शास्त्र प्राकृत भाषा मे हैं । जिससे उनका अर्थ सुगमता से प्रत्येक व्यक्ति को वोध होना दुर्लभ है । अंत उन आगमो का ज्ञान सुगम बनाने के लिए प्राकृत व्याकरण के साथ-साथ सस्कृत व्याकरण आदि तत्सबधित साहित्य के अध्ययन की भी आवश्यकता रहती है । उस आवश्यकता की पूर्ति हेतु सस्कृत आदि ग्रन्थो का अध्ययन किया जा सकता है ।

अथवा

शास्त्रीय अर्थ को जनमानस मे भव्य तरीके से पुष्ट बनाने हेतु भी तत्सबधित पुस्तको का अध्ययन किया जा सकता है परन्तु सस्कृत आदि अन्य साहित्य सर्वोपरि न समझा जाय न ही धर्म ग्रन्थ ही माना जाय । आगमो के सहायक रूप होने की भावना से अध्ययन करे तो मिथ्यात्व का दोप नही लगता है परन्तु सस्कृत आदि व्याकरण को ही सब कुछ समझा जाय, उसी को धर्म शास्त्र माना जाय तो मिथ्यात्व का दोष भी सभावित है ।

(41)

प्रश्न : सवर करने वाला श्रावक अछाया मे तथा गादी तकिया पर सो सकता है क्या ?

उत्तर सवर का विस्तृत दायरा है । परन्तु विवेकशील व्यक्ति को अछाया मे सवर नही करने का विवेक रखना चाहिए । सुखे समाधे गादी तकिया आदि का प्रयोग भी उपयुक्त नही रहता ।

(42)

प्रश्न · सयम शब्द का व्युत्पत्यर्थ क्या है ?

उत्तर · सं (प्लस) यम = सयम

सम्यक् प्रकार से यम—महाव्रतादि का पाँच इन्द्रियो और मन से विधिवत पालन करना सयम कहलाता है । व्युत्पत्ति—सम्यक्रीत्या इन्द्रिय मनसा दमन आत्मानुकूलेन भवन सयम ।

जिन दास महत्तर ने सयम का अर्थ किया है—

सजमो नाम उवरमो राग दोस विरहियस्स एगिभावे भवइत्ति ।

—जि० चू० पृ० 15

राग द्वेष से रहित हो एकीभाव मे स्थित होना संयम है । हरिभद्रसूरि ने सयम का अर्थ इस प्रकार किया है—"आश्रवद्वारोपरम सयम" अर्थात् कर्म आने के हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन, परिग्रह ये जो पाच द्वार हैं उनसे उपरमता सयम है ।

(43)

प्रश्न : केश लु चन का विधान कल्प सूत्र के अतिरिक्त अन्य किस आगम मे उपलब्ध होता है ? अग साहित्य मे कोई ऐसा उदाहरण आता है क्या, जिसमे दीक्षा ग्रहण करते समय पच मुष्ठि लु चन के अतिरिक्त किसी अन्य समय मे लु चन किया हो ?

उत्तर : केश लु चन करना जैन श्रमण का आचार है । केश लु चन की प्रवृत्ति किन्ही आचार्यों द्वारा पीछे से बनाई गई हो ऐसा नही है । आगम की भाषा मे उसे अनादि कहा जा सकता है । क्योकि द्वादशागी अनादि है । उसी द्वादशागी मे एव अन्य प्रामाणिक आगम शास्त्र मे केश लु चन का विधान आया है ।

द्वादशागी मे दूसरा अग सूत्रकृतांग है । उस सूत्रकृताग मे बताया गया है कि—

तता केसलोएण बभ चेरराइया ।
तत्थ मदा विसीयति, मच्छा विट्ठाव केयणे ।।

अर्थ :—केश लोच से पीडित और ब्रह्मचर्य पालने मे असमर्थ पुरुष प्रव्रज्या लेकर इस प्रकार क्लेश पाते है, जैसे जाल में फसी हुई मछली दु.ख भोगती है अर्थात् तडपड़ाती है ।

तथा उत्तराध्ययन सूत्र मे मृगापुत्र के माता-पिता मृगा पुत्र को श्रमण चर्या के कष्टो को दिखलाते हुए कहते है कि 'केस लोओ य दारुणो' इसके अलावा निरयावलिका पचक सूत्र मे निषध कुमार के वर्णन मे बतलाया गया है, कि ... जस्सट्ठाए कीरई णग्ग भावे मुंड भावे अण्हाणए जाव अदन्त वणए अच्छत्तए अणोवाहणाए फलह सेज्जा कट्ठ सेज्जा केस लोए बभ चेर वासे-परघर-पवेसे पिडयाओ लद्धाव-लद्धे उच्चावयाय गाम कटया अहियासिज्जई तमट्ठ आराहिइ आराहित्ता चरमे हि उस्सास निस्सा-से हि सिज्झिहिई बुज्झिहिइ जाव सव्व दुक्खाण अत काहिई ।

[निरयावलिका वर्ग 5 (वृष्णिदशा) अ० 1 सू० 3]

सूत्रकृताग की टीका मे भी केश लोच का वर्णन आया है । अत उक्त उदाहरणो से जैन मुनि को लोच करना चाहिए यह स्वत. सिद्ध है ।

(44)

प्रश्न : पच मुष्ठि लु चन मे दाढी मू छ के लु चन का समावेश कैसे होता है ? अन्य किसी स्थल पर कोई उदाहरण मिलता है क्या ? यदि नही तो दाढी-मू छ के लु चन की परम्परा कब से प्रारम्भ हुई ?

उत्तर दाढी मू छ के लु चन का मस्तक लु चने मे ही समावेश हो जाता है । व्यवहार में शिर काट डाला कहने से गले ऊपर का भाग लिया जाता है । उत्तम अग मे मस्तिष्क को माना गया है । उसमे गले के ऊपर के पूरे भाग को लिया है । अत प्रधानेन व्यपदेशाभवन्ति के अनुसार मस्तिष्क के लोच का विधान होने से दाढी मू छ का लोच भी उसी मे सम्मिलित हो जाता है ।

(45)

प्रश्न : आगम साहित्य मे जितने उदाहरण उपलब्ध होते है उनमे प्रव्रज्या ग्रहण के समय पचमुष्ठि लु चन का ही विधान है तो फिर आजकल दीक्षा लेते समय लु चन क्यो नही होता है, मुण्डन की यह परम्परा कब से प्रारम्भ हुई ?

उत्तर : आगम साहित्य मे जितने उदाहरण उपलब्ध होते हैं, उनमे प्रव्रज्या ग्रहण करते समय पच मुष्ठि लु चन का ही विधान है । ऐसा एकान्तिक विधान नही है । आगम साहित्य मे सबसे प्रामाणिक अग शास्त्र हैं । उन अग शास्त्रो मे प्रवज्या ग्रहण करते समय मुण्डन का विधान भी उपलब्ध होता है । ज्ञाता धर्म कथाग सूत्र मे मेघकुमार के अधिकार मे बतलाया गया है— "तएण से कासवए सेणिएण रन्ना एव वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ जावहियए जाव पडिसुणेइ पडिसुणित्ता सुरभिणगधोदएण हत्थपाए पक्खालेइ—पक्खालित्ता सुद्धवत्थेण मुह बन्धइ बन्ध इत्ता परेण जत्तेण मेहस्स चउरगुलवज्जे निक्खमण पाउग्गे अग्गकेसे कप्पई"

इस प्रकार का उल्लेख केवल ज्ञाता धर्म मे ही नही, सुख-विपाक, भगवती, अन्तगड आदि आगमो मे भी उपलब्ध है अत मुण्डन की परम्परा प्राचीन ही नही अनादिकालीन कही जा सकती है ।

मेघकुमार के अधिकार मे मूल पाठ मे जो "अग्ग केसे कप्पई" पाठ आया है । इसका अर्थ कई ऊपर-ऊपर के बाल काटने का करते हैं । पर वह सगत नही है बल्कि मस्तिष्क के अगले भाग के केसो को काटना अर्थ होता है ।

यह अर्थ चउरंगुलवज्जे पाठ से सिद्ध होता है अर्थात् मस्तिष्क के पिछले भाग मे चार अगुल छोडकर आगे-आगे के केसो को काटना उसके साथ ही निक्खमण-पाउग्गे शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षा प्रायोग्य । अत· मुण्डन की परम्परा प्रागैतिहासिक है ।

प्रश्न उठ सकता है कि मेघकुमार आदि का दीक्षा ग्रहण के समय पुन. पचमुष्ठि लोच करने का उल्लेख है, यदि घर से मुण्डन करके गये तो फिर लोच कैसे सम्भव हो सकता है ।

इसका समाधान यह है कि घर पर जो केश कटवाए गए थे उस समय चउरग्गुल वज्जे अर्थात्—चार अगुल स्थान को छोडकर मस्तिष्क के अग्र भाग के केशो को ही कटवाया गया था । जो चार अगुल स्थान विशेष के केश अवशेष रह गए थे, उन केशो का दीक्षा लेते समय लु चन किया जाता है । दशवैकालिक सूत्र मे भी वतलाया है कि "जया मुण्डे भवितपण पव्वइय अणगारिय" अत मुण्डन की परम्परा आगम सम्मत सिद्ध है ।

(46)

प्रश्न देवसी प्रतिक्रमण दिवसान्त के पश्चात् रात्रि के प्रारम्भ होने पर किया जाता है । वैसे ही रायसी प्रतिक्रमण रात्रि के अन्त एव दिन के प्रारम्भ होने पर क्यो नही किया जाता है ?

उत्तर · देवसी प्रतिक्रमण की तरह रायसी प्रतिक्रमण की तर्क युक्ति सगत है । पर वर्तमान मे प्रचलित परम्परा अर्वाचीन हो, ऐसा सम्भव नही लगता । यद्यपि कई विचारको ने देवसिय प्रतिक्रमण सूर्यास्त के पूर्व करने के अभिमत व्यक्त किए हैं । उसे प्राचीन परपरा भी वतलाई है । उत्तराध्ययन सूत्र से भी उक्त परपरा को प्रमाणित करने की चेष्टा की है । पर वह सगत प्रतीत नही होती क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन की 38वी गाथा मे चतुर्थ प्रहर के चतुर्थ भाग मे प्रतिलेखन करने का उल्लेख किया है । वस्त्र, शैया आदि की प्रतिलेखना के पश्चात् परठने की भूमि का उल्लेख करने को कहा है । इसके पश्चात् प्रतिक्रमण करने का विधान है । चौथे प्रहर का चौथा भाग लगभग 45 मिनट का होता है । शीतकाल के समय मे तो उससे भी छोटा होता है । यह समय वस्त्र, शैया एव भूमि आदि के प्रतिलेखन मे ही पूरा हो जाना सभव है । वैसी स्थिति मे दिन रहते-रहते देवसिय प्रतिक्रमण कैसे सगत बैठ सकता है ? सूत्रकृताग सूत्र 2/2/14 मे वतलाया गया है कि जहा सूर्यास्त हो जाय चारित्रवान साधु वही क्षोभ रहित होकर रुक जाय । यदि सूर्यास्त तक साधु चलता है तो फिर प्रतिक्रमण कब करेगा ? अत देवसी प्रतिक्रमण सूर्यास्त

के पश्चात् सम्भव हो सकता है । वैसे ही रात्रि प्रतिक्रमण सूर्योदय के पहिले करना आगम सम्मत है । उत्तराध्ययन के उक्त अध्ययन मे ही 21वी गाथा मे प्रथम पोरसी के प्रथम प्रहर मे प्रतिलेखन करने के लिए निर्देश दिया है । अत सूर्योदय के पश्चात् प्रतिक्रमण का विधान होता तो प्रथम प्रहर के प्रथम भाग मे प्रतिलेखन का विधान कैसे किया जाता ? इतना ही नही उसी अध्ययन की 46 से 52वी गाथा तक मे स्पष्ट निर्देश दिया है कि रात्रि चतुर्थ प्रहर के चतुर्थ भाग मे रात्रि प्रतिक्रमण करें ।

इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र मे क्षेत्राति क्रान्त दोष का जो विधान हुआ है । उससे भी सूर्योदय के पूर्व एव सूर्यास्त के पश्चात् प्रतिक्रमण करना सिद्ध होता है । अत देवसी प्रतिक्रमण रात्रि के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग मे करना आगम सम्मत है ।

(47)

प्रश्न : आल का कलाकन्द, गाजर का कलाकन्द आदि जिसके हरी लिलोत्री के नियम होवें, वह कितने दिन के अन्तराल से उपयोग मे ले सकता है ?

उत्तर : तीन या चार दिवस से उपयोग लिया जा सकता है । अव्यवस्थित रह गया है तो फुलन की सम्भावना होने से हरी की सम्भावना लग सकती है अन्यथा नही ।

(48)

प्रश्न : साधु को धुली हुई मु हपत्ती का प्रतिलेखन कितने दिन के अन्तराल से करना चाहिए ?

उत्तर : मुँह पत्ती धुली हुई हो अयवा विता धुली हुई, प्रतिलेखन उभयकाल नियमित होना चाहिए । कदाचित् कभी भूल से रह जाय तो उसका प्रायश्चित आता है ।

(49)

प्रश्न : जिस धर्म स्थान पर श्रावक धार्मिक अनुष्ठान करता है उस स्थान मे कभी परिस्यिति वश विजली रात भर जलती हो और व्रतधारी श्रावक मूत्रादि परठने के लिए आवागमन करता हो तो श्रावक को क्या प्रायश्चित आता है ?

उत्तर : सामायिक आदि धार्मिक क्रिया मे सलग्न श्रावक को सावद्य क्रिया करने एव करवाने का त्याग होता है । ऐसी स्थिति मे विजली आदि

के प्रकाश मे वह भूमि परिमार्जन करता हुआ विद्युत आदि के प्रकाश की आकाक्षा रहित होकर यदि परठने आदि के लिए गमनागमन करता है तो उस श्रावक को तत्सम्बन्धी प्रायश्चित आने का प्रसग नही रहता । उस धार्मिक स्थान मे अगर सन्त-सती वर्ग विराज रहे हो तो उसमे विजली आदि कतई रहनी चाहिए ।

(50)

प्रश्न : आयम्बिल के अन्दर सुखाई हुइ सब्जी उवाल कर खा सकते हैं या नही ?

उत्तर : आयम्बिल के अन्दर सुखाई हुई सब्जी अथवा अन्य कोई साग नही लेना चाहिये । आयम्बिल मुख्यतया रसनेन्द्रिय को जीतने की प्रक्रिया है । अत गृहस्थावस्था मे रहने वाला गृहस्थ आयम्बिल करता है तो उसको वनती कोशिश एक जातीय अलूना प्रासुक अन्न प्रासुक पानी मे भिगोये विना नही लेना चाहिये । क्योकि वह गृहस्थ होने से एक जातीय अन्न को प्राप्त कर सकता है परन्तु साधु जीवन मे ऐसी शक्यता नही है । अत उनकी भिक्षा मे सहज स्वाभाविक आयम्बिल योग्य एक जातीय या दो जातीय जो भिक्षा प्राप्त हो वह प्रासुक पानी मे भिगो कर के ग्रहण कर सकता है । पर इस प्रकार की सब्जिया आदि उवाल कर व अन्य तरीके से ग्रहण करना, आयम्बिल तप के उद्देश्य के अनुरूप नही कहा जा सकता है ।

(51)

प्रश्न : चौथे आरे की स्थिति आरम्भ मे क्रोड पूर्व एव अन्त मे 100 वर्ष भाभेरी है तो भगवान महावीर का आयुष्य 72 वर्ष कैसे ?

उत्तर : उतरते चौथे आरे की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त एव उत्कृष्ट स्थिति 100 वर्ष भाभेरी लघुदण्डक मे वताई है ।

अत अन्तर्मुहूर्त से 100 वर्ष भाभेरी पर्यन्त मध्य में जितनी भी स्थिति है, वह सब आ जाती है । अत भगवान् महावीर की 72 वर्ष की स्थिति भी उसके अन्तर्गत ही होने से कोई विरोध नही आता ।

(52)

प्रश्न : पचरगी आदि में जो 2-3-4 दिनवाले हैं वो दया, उपवास न कर आयम्बिल कर सकते हैं क्या ?

उत्तर उपवास, दया या आयम्बिल किसी की भी पचरगी हो सकती है । अगर उपवास की पचरगी हो तो उपवास की पचरगी, आयम्बिल की हो तो

आयम्बिल की पचरगीया दया की हो तो दया की पंचरगी कहना चाहिये। अगर सम्मिलित हो तो उपवास-दया की पचरगी या दया-आयम्बिल की पचरगी या उपवास-आयम्बिल की पचरगी कहना चाहिये। जैसा भी हो वैसा कथन करना चाहिये।

(53)

प्रश्न : क्या खा-पीकर ग्यारहवा पौषध किया जा सकता है ?

उत्तर : खा पीकर के जो पौषध होता है वह दशवा पौषध कहलाता है। ग्यारहवे पौषध के पच्चक्खान का जो पाठ है, उसमे *असण पाण खाइम साइम* के त्याग का उल्लेख है। उसमे पानी का भी आगार नही है अत ग्यारहवे पौषध मे पानी भी नही लिया जा सकता है। यदि कोई यह तर्क करे कि पानी लेकर ग्यारहवा पौषध पच्चक्ख लिया जाय दो दूसरा व्यक्ति यह भी कह सकता है कि जैसे पानी लेकर ग्यारहवा पौषध पच्चक्खा जाता है वैसे ही आहार भी लेकर ग्यारहवाँ पौषध पच्चक्खे तो क्या हर्ज है ? इसी तरह कोई अब्रह्म को, कोई शृ गार को खुला रखकर ग्यारहवा पौषध करना शुरू करने लगे तो यह उस पाठ की अवहेलना होगी और साथ ही जो ग्यारहवें पौषध की परिपाटी है वह सारी गडबड मे पड जायेगी।

अत ग्यारहवा पौषध चौविहार पूर्वक ही करना चाहिये।

(54)

प्रश्न : आयम्बिल तथा एकासना वाला दशवा पौषध कर सकता है क्या ?

उत्तर : आयम्बिल, एकासना यदि सवर या दयापूर्वक हो तो दशवा पौषध किया जा सकता है।

(55)

प्रश्न · पाच प्रहर का जो ग्यारहवा पौषध पच्चक्खाया जाता है। उसको किस पाठ से पचक्खाया जाय।

उत्तर : ग्यारहवे प्रतिपूर्ण पौषध के पाठ से पच्चक्खाया जाता है। पर ग्यारहवा पौषध पच्चक्खाते समय प्रतिपूर्ण शब्द का उच्चारण नही करना चाहिये।

(56)

प्रश्न : ग्यारहवें पौषध मे पानी क्यो नही लिया जाता ?

उत्तर : ग्यारहवे पौषध मे पानी नही लेना यह पौषध पच्चक्खाने वाले

पाठ से ही सिद्ध होता है क्योंकि उसमे असण पाण खाइम साइम का त्याग कहा है इसीलिए ग्यारहवा पौपध मे पानी नही लिया जा सकता।

(57)

प्रश्न · गुजराती समाज गुरुवन्दना के तिक्खुत्तो पाठ मे "करेमि" शब्द का उच्चारण नही करते। अत करेमि शब्द का उच्चारण करना चाहिये या नही ?

उत्तर · तिक्खुत्तो के पाठ मे एक मत का ऐसा कहना है कि तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेमि यह पाठ विधि का सूचक है। इस मत के अनुसार विधि यदि ऊपर मे समझाकर वदामि पाठ से उच्चारण कराया जाता है तो तिक्खुत्तो से करेमि तक सभी छोडना उपयुक्त रहता है न कि सिर्फ करेमि शब्द। पर उपर्युक्त विधि हर कोई समझावे ऐसी स्थिति नही रहती इसीलिए इन विधि परक शब्दो सहित उच्चारण करना योग्य रहता है। अत. करेमि शब्द का भी उच्चारण हो जाने मे हर व्यक्ति को इस विपयक ज्ञान मे सुविधा रहती है।

(58)

प्रश्न चोविहार (देश पौपध) पाच प्रहर का पच्चक्खा जाता है। क्या चौविहार उपवास करने वाला ग्यारहवा पौपध 4 प्रहर का नही पच्चख सकता। क्योंकि पाठ मे समय का खुलासा नही है। पाठ मे "अहोरत" शब्द आया है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर · चौविहार उपवास वाले के लिए पाच प्रहर का पौपध ग्रहण करने की पद्धति 'परम्परा' मे समझनी चाहिये। इसमे कम मे कम एक प्रहर दिन का भाग तो होना ही चाहिये। इस परम्परा मे चौविहार तो 'अहोरत' का होता ही है। एक प्रहर दिन का भाग पौपध मे समाविष्ट हो जाने से परम्परा की दृष्टि मे गलत नही होता। चौविहार रहने पर भी चार प्रहर का ग्यारहवा पौपध परम्परा से नही पच्चखा जाता क्योंकि एक प्रहर का दिन सम्बन्धी भाग इसके साथ नही जुडता। इसके अतिरिक्त दशवे और ग्यारहवे पौपध की भेद रेखा भी होनी चाहिये। अत अहोरत शब्द का अर्थ दिन रात होना है। इसलिए दिन का कम से कम एक प्रहर समय एव रात्रि मिलाकर अहोरत की मर्यादा का पालन हो जाय, इस भावना से परम्परा मे ग्यारहवा पौपध पाच प्रहर का पच्चखाया जाता है। अत परम्परा मे चार प्रहर का ग्यारहवा पौपध का प्रत्याख्यान नही करवाया जाता है।

(59)

प्रश्न ग्यारहवे पौपध मे समय पाच प्रहर लेना या पन्द्रह घण्टे ? क्योंकि शीत काल मे जब 13 30 घण्टे की रात्रि होगी तब क्या आधा घण्टा दिन रहने पर पौपध लेकर सूर्योदय पर पारा जा सकेगा, नही तो ग्रीष्म काल मे 10 30 घण्टे की रात्रि होने पर

एक प्रहर लगभग 3 30 घण्टे दिन रहने पर और सूर्योदय पर पार लेने से 14 घण्टे होते हैं। अत कौन सी व्यवस्था उचित है ?

उत्तर : ग्यारहवे पौषध मे पाच प्रहर लेना चाहिये वह भी जिस दिन उपवास हो उस दिन चौथा प्रहर लगने के आस-पास पौषध ग्रहण कर लेना चाहिये। कदाचित् कुछ विलम्ब हो जाय तो उतना समय सूर्योदय के पश्चात् पूरा किया जा सकता है, रात्रि चाहे कितने ही की हो, पर वह समय 4 प्रहर कहलाता है अत एक प्रहर दिन का अवश्य होना चाहिये।

(60)

प्रश्न : सर्वार्थ सिद्ध मे कौनसी समकित पाई जाती है ? अगर एकात क्षायिक समकित ही पाती हो तो इसका वर्णन कौन से शास्त्र मे है ?

उत्तर : सर्वार्थ सिद्ध मे क्षायिक एव क्षयोपशमिक दोनो समकित पाई जाती हैं। 198 देवो के भेदो मे से 15 परमाधर्मी एव 3 किल्वीषी 15 + 3 = 18 के पर्याप्ता-अपर्याप्ता 18 × 2 = 36 को छोड कर शेष 162 भेद क्षायिक एव क्षयोपशम समकित मे पाये जाते हैं। इससे सर्वार्थ सिद्ध मे दोनो समकितो का होना सिद्ध होता है।

(61)

प्रश्न · चार स्थावर (पृथ्वी, अप, वायु और वनस्पति) सचित्त एव अचित्त दोनो ही होते हैं तो क्या तेऊ काय भी सचित्त-अचित्त दोनो होती हैं, अचित्त तेऊ कौनसी ?

उत्तर चार स्थावर की तरह तेऊ काय भी सचित एव अचित्त होती हैं। तेऊ काय के साथ एक-मेक होकर जो पुदगल अवशेष रह जाते हैं उन्हे अचित्त तेऊ काय कहते है जैसे—भडभूंजा की भट्टी की अग्नि से भट्टी की तप्त ईटे, चूल्हे पर चढाया हुआ तप्त तवा एव राख आदि।

(62)

प्रश्न · तीर्थ कर भगवान के पार्थिव शरीर का क्या होता है ?

उत्तर : तीर्थ कर भगवान के पार्थिव शरीर का देव दाहसस्कार कर देते हैं तथा जो राख, हड्डी आदि अवशेष रह जाते है उसे क्षीर समुद्र मे ले जाकर वहा देते हैं।

(63)

प्रश्न : मक्खन (बिना छाछ) मे जीवो की उत्पत्ति होती है अथवा नही ? होती है तो कितने समय बाद ? इसका प्रमाण क्या ?

उत्तर : छाछ रहित मक्खन मे जीवो की उत्पत्ति हो ऐसा प्रमाण उपलब्ध नही है। इसलिए उसमे जीवो की उत्पत्ति हो ही जाती है यह निश्चय रूप मे नही कहा जा सकता। परम्परा से छाछ मे निकाला हुआ मक्खन अन्तर्मुहूर्त के बाद ग्राह्य नही समझा जाता। छाछ के अन्दर रहा हुआ मक्खन भी बिना कारणिक अवस्था मे साधु-साध्वी को ग्रहण नही करना चाहिये।

(64)

प्रश्न . डालडा (वनस्पति घी) घी का विगय गिना जावे अथवा तेल का क्योकि डिब्बे पर तेल लिखा रहता है, व्यवहार मे उसको घी कहा जाता है ?

उत्तर · डालडा (वनस्पति घी) के डिब्बे पर यदि तेल लिखा हुआ हो तो उसे घी का विगय नही समझना चाहिये।

(65)

प्रश्न . मूगफली, जमीकद है या नही ?

उत्तर : जमीकद का अर्थ यदि जमीन मे उत्पन्न होना लिया जाय तो उस परिभाषा के अनुसार मूगफली, जमीकद है। यदि जमीकद का अर्थ अनन्त-कायिक निगोद आदि के रूप मे ग्रहण किया जाता हो तो मूगफली अनन्त-कायिक जमीकद (निगोद) नही।

(66)

प्रश्न यदि साधु किसी गृहस्थ को सामायिक पच्चक्खावे और गृहस्थ सामायिक को अधूरी पाल ले तो पच्चखाने वाले को प्रायश्चित आता है क्या ?

उत्तर · कोई श्रावक सतो से यदि सामायिक अथवा दूसरे प्रत्याख्यान मागता है तो सत उन्हे प्रत्याख्यान करवाते हैं। किन्तु कालातर मे कदाचित् कोई प्रत्याख्यान तोड दे अथवा अधूरे मे पूरा कर ले तो उसका दोष साधु को नही आता क्योकि जैसे जमाली आदि भगवान् महावीर से दीक्षा लेकर के भी सम्यक् अनुपालना नही की जिसका दोष भगवान् को नही लगा।

(67)

प्रश्न : यह एक प्रकार की समाचारी है कि साधु बाहर जावे तब आवस्सही-आवस्सही कहे और वापस लौटे तब निस्सही-निस्सही कहे तो क्या ऐसा कहना जरूरी है ? क्या आवस्सही आदि मन मे कहना या उच्च स्वर से ? यदि बडे साधु हो और वे जोर से नहीं कहे तो छोटा साधु उस विषय मे उनको कह सकता है क्या ?

उत्तर : साधु बडा हो अथवा छोटा आवस्सही-निस्सही आदि शब्दो का उच्चारण कुछ जोर से करना चाहिये। बडे सतो को कुछ भी कहने का प्रसग

आवे तो छोटे सत को विनम्र भाव से उन्हे निवेदन कर देना चाहिये, आदेश रूप मे नही।

(68)

प्रश्न : विलौना करती हुई बाई साधु को आहार वहरा सकती है क्या ?

उत्तर : विलौना करती हुई बाई किस अवस्था मे है उसका विवेक गवेषक को रखना अपेक्षित है। बिलौना करती हो तो उसे बन्द करवा कर नही लेना चाहिये।

(69)

प्रश्न : जैसे साधु के लिए यह नियम है कि वह गृहस्थ के सामने मुँहपत्ती नहीं खोले। तो क्या गृहस्थ को मुँह दिखाकर गृहस्थ को उसका प्रायश्चित दिया जा सकता है ?

उत्तर : साधु को मुँह दिखाने की दृष्टि से गृहस्थ के सामने मुँह पत्ती कतई नही खोलना चाहिये और न ही गृहस्थ को प्रायश्चित आदि का प्रसग रहता है।

(70)

प्रश्न : साधु खूटी आदि पर टगे हुए थैले मे से कोई वस्तु ले सकता है क्या ?

उत्तर · खूटी पर टगे थैले आदि से ग्रहण करने मे अयतना की सभावना हो तो साधु को ग्रहण नही करना चाहिए।

(71)

प्रश्न : हिन्दुस्तान कौन से भरत क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है ? जो अलग-अलग भरत क्षेत्र का वर्णन आया है उनमे अपना भरत क्षेत्र कौनसा है ?

उत्तर शास्त्रो मे पाच भरत क्षेत्र वतलाये हैं—

एक जम्बू द्वीप मे, दो घातकी खण्ड मे एव दो अर्ध पुष्करवर द्वीप मे। इस तरह पाच भरत मे से अपना भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप मे है। वह मेरु पर्वत से दक्षिण दिशा मे है।

(72)

प्रश्न कच्चे खोपरे का पानी एव कच्चा खोपरा सचित्त है या अचित्त ?

उत्तर कच्चे खोपरे का तात्पर्य अपक्व नारियल मे नही है, पक्के हुए नारियल के गीलापन से है। ऐसे कच्चे यानी गीले खोपरे का पानी जब तक खोपरे

के अन्दर है तब तक सचित्त माना जाता है। बाहर निकलने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् इस पानी को सचित्त नही माना जाता है।

इसी प्रकार खोपरे मे से बीज अलग हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त पश्चात् खोपरा भी सचित्त नही माना जाता जैसे आम आदि का रस एव पणा। पूर्व परम्परा ऐसी ही ज्ञात है। वर्तमान मे अपने मनमाने ढग से अमुक वस्तु को सचित्त एव अमुक वस्तु को अचित्त मान लेना स्वेच्छाचार कहा जा सकता है।

(73)

प्रश्न पेन जब जेब मे रहता है तो अचित्त मानना और लिखें तब उसको सचित्त मानना कहाँ तक न्याय सगत है ?

उत्तर : पेन तो अचित्त ही होता है। सभी उसे अचित्त ही मानते हैं। मतभेद स्याही को लेकर चलता है। एक पक्ष का कहना है कि स्याही मे फूलन आ सकती है इसलिए प्रयोग नही करना चाहिये परन्तु यह उनकी केवल आशंका मात्र है। वैज्ञानिको के कथनानुसार इसमे कई इस प्रकार के केमिकल्स मिलाये जाते हैं जिसमे स्याही मे फूलन नही आ सकती, इस विषय को "सयुक्त निर्णय समीक्षा" मे श्रीमान् कालूरामजी छाजेड आदि ने स्पष्ट किया है।

जो स्याही मे सचित्त की आशका करते है उनके लिये नियमानुसार स्याही युक्त पेन चाहे जेब मे हो, चाहे लिख रहे हो ऐसे व्यक्ति से सगटा टालना आवश्यक है। ऐसा नहीं मानकर जेब मे रहने पर सगटा नहीं मानना और लिखते समय सगटा का प्रतिपादन करना युक्तिसगत नहीं है।

(74)

प्रश्न जिस प्रकार स्थडिल जाकर गुरु से पहले शिष्य गमनागमन का प्रतिक्रमण करता है तो आशातना लगती है। उसी प्रकार गोचरी आदि से आकर गुरु से पहले ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करे तो आशातना लगती है क्या ?

उत्तर : गुरु अथवा बडो के पश्चात् ही गमनागमन आदि कायोत्सर्ग करना चाहिये। 33 आशातना में जो स्थडिल शब्द का प्रयोग हुआ है उसे केवल स्थडिल तक ही सीमित नही करके तदनुसार प्रत्येक स्थान पर यह स्थिति लागू समझनी चाहिये।

(75)

प्रश्न : आधाकर्मी आहार साधु यदि लेवे तो उसको क्या प्रायश्चित आता है ?

उत्तर : आधाकर्मी आहार किस अवस्था विशेष मे उपयोग किया गया है, उसकी आलोचना पर ही निर्भर करता है तथापि प्रायश्चित दीक्षा छेद से तो कम का नही आता ।

(76)

प्रश्न साधु रात्रि मे प्रवचन देनें के लिये कितनी दूर जा सकता है तथा कितनी रात्रियो तक जा सकता है ?

उत्तर : रात्रि मे परठने के लिये जितनी भूमि मे जा सकता है, प्रवचन के लिये भी रात्रि मे उतनी भूमि की मर्यादा समझनी चाहिये । वह भी एक ग्राम मे अपवाद स्वरूप एक या दो रात्रि, उससे अधिक नही ।

(77)

प्रश्न सरस्वती एव लक्ष्मी के माता-पिता का क्या नाम था ?

उत्तर : जैनागमो मे ऐसा प्रसग कही नही आया है । जैन सिद्धान्तानुसार देव-देवियो के माता-पिता का प्रसग ही नही रहता ।

(78)

प्रश्न : साधु रात्रि मे एक कमरे मे अकेला सो सकता है क्या ? यदि उसे सोना नही कल्पता है तो उसको प्रायश्चित आता है क्या ?

उत्तर : कमरा हो चाहे वरामदा, साधु-साध्वी को एक दूसरे की दृष्टि मे ही सोना चाहिये । जहा दृष्टि का प्रसार नही होता है वहा चाहे कमरा हो अथवा वरामदा, नही सोना चाहिये । इस मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला प्रायश्चित का भागी होता है ।

(79)

प्रश्न कोई साधु गृहस्थ के घर पेनादि भरने के लिये गृहस्थ की आज्ञा लेकर बैठ सकता है या नही ?

उत्तर : बिना किसी सवल कारण के अभाव मे गृहस्थ के घर आज्ञा लेकर भी नही बैठना चाहिये ।

(80)

प्रश्न साधु के नेश्राय मे रही हुई पुस्तकादि गृहस्थ ज्ञानादि वृद्धि के लिये ले जाय और वह गृहस्थ 1, 2 या 3 दिन मे वापस देवे तो साधु को प्रायश्चित्त आता है क्या ? आता है तो कितना ?

उत्तर साधु के नेश्राय की पुस्तक गृहस्थ को स्थानक से बाहर ले जाने हेतु नही देना चाहिये तथा रात्रि मे भी गृहस्थ के पास नहीं रहनी चाहिये। कदाचित् गृहस्थ के पास रह गयी हो तो साधु को प्रायश्चित आता है। भूल से रह जाने पर साधारणतया एक रात्रि का एक उपवास दिया जाता है।

(81)

प्रश्न . यदि कोई बडा साधु अपने साथ के अन्य साधुओ से कहे कि यह प्रतिलेखन आदि कार्य इस प्रकार से नहीं, इस प्रकार करना चाहिये तो वे अन्य साधु इस प्रकार कह सकता है क्या, कि आप इस प्रकार क्यो कहते हैं जो जैसा करेगा वैसा पायेगा यानी आपके इस प्रकार फरमाने पर कषाय की वृद्धि होती है इसलिये आपको इस प्रकार नहीं कहना चाहिये।

उत्तर छोटे अथवा बडे सत को किसको क्या कहना, कैसे कहना, कितना कहना, इसका विवेक रखना चाहिये। अन्यथा यदि कषाय वृद्धि होने की सभावना हो तो वहा तटस्थ रहना उपयुक्त रहता है तथा कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से अनुशास्ता को उसकी जानकारी दे देनी चाहिये।

(82)

प्रश्न . साधु मलमल का चोलपट्टा पहन कर स्थानक के बाहर जा सकता है क्या ?

उत्तर मलमल का चोलपट्टा स्थानक मे भी नही पहन सकता तो स्थानक के बाहर जाने का तो प्रश्न ही नही उठता।

(83)

प्रश्न : साधु गृहस्थ से सेक करने की थैली आदि स्थानक मे मगा सकता है क्या ?

उत्तर . साधु को सेक कराने की थैली अथवा अन्य कोई भी वस्तु अत्यन्त लाचारी अवस्था के बिना गृहस्थ से स्थानक मे नही मगानी चाहिये।

(84)

प्रश्न : बिना मुँह पत्ती सवर किया जा सकता है क्या ?

उत्तर : बिना मुँह पत्ती भी सवर किया जा सकता है पर खुले मुँह नहीं बोलने का विवेक अवश्य रखना चाहिये। बनती कोशिश मुँह पत्ती रखना चाहिये।

(85)

प्रश्न : यदि कोई कन्दोई मिठाई बेचने हेतु दूसरे गाव से आवे और वह साधु को भावना भावे तो साधु उसके पास से मोदकादि ग्रहण कर सकता है क्या ?

उत्तर : बेचने के निमित्त लायी गयी सामग्री भावना भाने पर व्यवहार शुद्धि के साथ ग्रहण की जा सकती है ।

(86)

प्रश्न : यदि गृहस्थ के यहा गर्म पानी के वर्तन मे मौसमी आदि फुट डाला हुआ हो तो साधु उस मौसमी आदि को या गर्म पानी को ग्रहण कर सकता है या नही तथा यदि गृहस्थ वहराने के लिए उस वर्तन के हाथ लगा दे तो घर असुसता होता है क्या ?

उत्तर गर्म पानी मे डाल देने मात्र से अखण्ड मौसमी आदि अचित्त नहीं होती इसलिये वह सामग्री नही ली जा सकती । गृहस्थ के हाथ लगा देने पर घर असुसता करने का प्रसग रहता है ।

(87)

प्रश्न : दो करण तीन योग के दयाव्रत पालक को घर से आये हुए या अन्य स्थान के भोजन आदि को ग्रहण करना या नही ?

उत्तर दो करण तीन योग से दयाव्रत करने वाला गृहस्थ दयाव्रत मे भोजन आदि के लिये किसी प्रकार का कोई सकेत नही कर सकता । पारिवारिक सदस्य या अन्य कोई स्वत ही भोजन ले आवे तो उसका विवेक के साथ उपयोग कर सकता है । क्योकि उसके मन, वचन, काया से सावद्य कार्य करने एव करवाने मात्र का त्याग होता है ।

(88)

प्रश्न नमक कुए के पानी मे जमता है व नमक रूप मे परिणित होने वाले तत्त्व अपकाय रूप भी है । अत उन्हें नमक रूप पृथ्वीकाय मानना या खारा पानी रूप अपकाय ?

उत्तर · जव तक पानी नमक के रूप मे परिणित नही होता तव तक उसे अपकाय के रूप मे लेना चाहिये । नमक रूप मे परिणित होने पर पृथ्वीकाय के रूप मे कहना चाहिये ।

(89)

प्रश्न . नियम है कि प्रतिक्रमण 50 मिनट मे होकर प्रत्याख्यान हो जाने चाहिये

लेकिन यदि कोई धीरे-धीरे प्रतिक्रमण करता हो तो क्या चौथे आवश्यक को पूर्ण किये बिना ही अर्थात् भाववदना आदि को छोड कर पाचवा आवश्यक तथा छठा आवश्यक पूर्ण करके फिर पाच पदो की वन्दना दे सकता है क्या ?

उत्तर प्रतिक्रमण कालोकाल ही करना चाहिये तथा जो क्रम है उसी क्रम से करना चाहिये। कोई धीरे-धीरे भी करता है तो अगर वह समय पर आज्ञा ले लेता है तो समय पर पूर्ण कर सकता है। कदाचित् कभी विलम्ब हो जाय तो उसकी आलोचना की जा सकती है पर व्युत्क्रम से प्रतिक्रमण करने का विधान नही है।

(90)

प्रश्न · साधु स्थानक मे दिन मे कम्बल ओढ सकता है या नही ?

उत्तर आवश्यकतानुसार साधु स्थानक मे दिन मे कम्बल ओढ सकता है।

(91)

प्रश्न यदि किसी प्रकार धोवन गृहस्थ के यहा हो और गृहस्थ उस धोवन मे लोग, इलायची इत्यादि बाटकर डाल दे तो क्या वह धोवन ही माना जाता है। यदि वह धोवन माना जाता है तो साधु के लिए कल्पनीक है या नही ?

उत्तर धोवन पानी मे यदि श्रावक लोग, इलायची आदि स्वय के लिए पीस बाटकर डाल देता है तो वह मर्यादित काल तक धोवन रहता है। सचित्त नही होता। साधु भी ग्रहण कर सकता है। कच्चे पानी मे वे वस्तुए डाली हो तो साधु नही ले सकता।

(92)

प्रश्न जैसे एक व्यक्ति का पात्र है, दूसरा व्यक्ति उसको लाकर अन्य व्यक्ति के घर पर रख देता है और उस पात्र को साधु भूल से ले आवे, कदाचित् वह पात्र सदोष हो तो उसमें से कितना घर असूझता हुआ।

उत्तर . साधु के निमित्त दूसरे घर लाकर रखा हुआ सामान साधु को नही लेना चाहिये। भूल से लेने मे आवे और जानकारी हो जावे तो प्रायश्चित्त ले लेना चाहिये। पात्र की सदोषता का जो उल्लेख है उसका तात्पर्य क्या है ? त्रस जीव युक्त अथवा अनाज के दानो से युक्त। यदि त्रस जीवो से युक्त हो तो घर असूझता नही होता है। अनाज आदि से सदोष हो तो जिसके घर से लाया गया उसी का घर असूझता समझना चाहिये।

(93)

प्रश्न जिस प्रकार स्थण्डिल से आकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करना होता है उसी प्रकार जितनी बार पडगा परठे ध्यान करना चाहिये क्या ?

उत्तर . जितनी बार स्थडिल जाने अथवा लघु नीति आदि परठने का प्रसग आवे उतनी बार ही ईर्या पथिकी प्रतिक्रमण करना चाहिये ।

(94)

प्रश्न मात्र युक्त कितने मिनट रह सकता है ?

उत्तर लघु नीति आदि समुच्छिम उत्पत्ति होने वाले पदार्थो मे एक मुहूर्त पश्चात् समुर्च्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं। वनती कोशिश आधा घण्टा से ऊपर नही रखा जाय तो उपयुक्त है । ऐसी परम्परा है ।

(95)

प्रश्न स्थडिल प्रतिलेखन तथा गौचरी आदि का ध्यान एक साथ किया जा सकता है क्या ?

उत्तर ध्यान एक साथ किया जा सकता है ।

(96)

प्रश्न होटल से साधु पेयादि ला सकता है क्या ?

उत्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलतानुसार विवेक वर्तने का प्रसग है ।

(97)

प्रश्न पचायती आयम्बिल शाला, जिसमे देहरावासी के लिए भोजन पानी वनता है, वहा का आहार पानी लेना या नही ? यदि लें तो सभी घर फरसे हुए माने जायेंगे या नही ?

उत्तर जिसमे सभी व्यक्तियो की भागीदारी हो तो शयान्तर की गवेपणा करनी आवश्यक है । यदि उन व्यक्तियो मे शयान्तर भी सम्मिलित है तो वह आहार पानी ग्राह्य नही हो सकता एव दाणट्ठा, पुणट्ठा, वणीमट्ठा और समणट्ठा, इन चारो के निमित्त से अर्थ (धन) लगा हो तथा धर्मादा की दृष्टि से भी यदि पैसे लिये जाते हो और वह धर्मादा देने वाला व्यक्ति या उसके परिवार वाले उसमे भोजन नही करते हो तो वह भी ग्राह्य नही ।

उपरोक्त दाणट्ठा के होने पर यदि पचायती आयबिल शाला हो और दानदाता भी उसमे से आहार पानी लेते हो तो उस आयविल शाला से आहार पानी लिया जा सकता है। वहा से लेने मे सभी घर फरसे नही माने जा सकते। जैसे एक ही व्यक्ति के दुकान और घर अलग-अलग हैं। ऐसी हालत मे दुकान पर से वस्तु लाई जाय तो घर स्पर्श हुआ नही माना जाता, वैसे ही यहा पर भी समझना चाहिए। पर जितने भी व्यक्तियो की भागीदारी हो—उनकी देने के लिए अनुमति हो अर्थात् उन दानदाताओ का अभिप्राय दान देने का रहा हुआ हो तो लिया जा सकता है।

दुण्ह तु भुंजमाणाण, दो वितत्थ निमतए।
दिज्जमाण पडिच्छिज्जा, ज तत्थे सणिय भवे ॥

(98)

प्रश्न सभी के लिये ढाबा चलता हो, कोई भी आगन्तुक रुपये देकर जीम सकते हो तो वहा का आहार लेना या नही ?

उत्तर ऐसे ढाबो मे भी दाणट्ठा पुणट्ठा आदि न हो और सबसे पूरे पैसे लिये जाते हो तथा साधु को वहराने का पैसा नही लिया जाता हो तो वहा का आहार लेने मे कोई एतराज नही।

(99)

प्रश्न साधु वर्षा आदि के कारण विशेष से स्थानक मे किसी के लिये रहे हुवे धोवन आदि पदार्थ को ले सकता है क्या ?

उत्तर नही ले सकता। क्योकि स्थानक मे धोवन आदि पदार्थ श्रावक, दया आदि विशेष प्रसग पर ही लाता है और वह मर्यादित सीमा तक ही रहता है। प्रारम्भ में कदाचित् प्रासुक भी हो, और कदाचित् किसी साधु ने एक बार वैसा ले भी लिया, तो श्रावक वर्ग को वैसा ज्ञान हो जाने से कि महाराज स्थानक मे लाए गए पदार्थ को भी लेते है, तब श्रावक साधु के निमित्त भी ला सकता है। जिसमे आधाकर्मी, सामने लाए हुवे आदि दोषो की पूरी सभावना रहती है। अतः इस प्रकार के दोष का रास्ता न बने एतदर्थ प्रासुक आहार पानी बस्ती में से शास्त्रीय समाचारी के अनुसार ही लेना योग्य रहता है। स्थानक मे आहार पानी कतई नही लेना चाहिये।

(100)

प्रश्न : गृहस्थ ना स्वयं रोग आदि के लिये कुछ रूप मे बन्द किए हुए हो तो साधु उसे औषधि आदि के रूप मे बन्द या बन्द से सकता है या नही ?

उत्तर जो औषधि गृहस्थ के घर से खुली लाने मे कठिनाई नही पडती हो तो उसका बन्द डिब्बा नही लेना चाहिये। पर जो औषधि गृहस्थ के यहा से खुली लाने मे मात्रा आदि का ध्यान नही रहा हो तो वैसी औषधि बन्द पैकेट भी अपवाद मार्ग मे ली जा सकती है। पर मुरब्बा आदि के बन्द डिब्बे लेना ठीक नही है क्योकि वह गृहस्थ के यहा से आसानी से लाया जा सकता है।

(101)

प्रश्न : जैसे 4 साध्वियाँ है। उसमे से एक की तपस्या है। वह साध्वी पारणा लाने के लिए गृहस्थो के यहां भिक्षार्थ पधारें और उसी घर पर जाय जिस घर से पहले दिन अन्य साध्वियो ने गौचरी की थी। उस पहले दिन के आहार को तपस्विनी साध्वी ने नही लिया किन्तु अन्य साथ की सतियो ने लिया हो तो दूसरे दिन वह तपस्विनी साध्वी उस घर के आहार को ग्रहण कर सकती है क्या ?

उत्तर : पहले दिन के स्पर्शे घर से कारण विशेष से कोई वस्तु लेना आवश्यक हो तो ली जा सकती है। अन्यथा कोई साध्वी आहार ग्रहण करे अथवा नही करे घर सब के लिये समान रूप मे स्पर्शा हुआ माना जाता है क्योकि प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि एक हैं। अत किसी भी साध्वी ने आहार लिया हो, पहले दिन स्पर्शे घर से गोचरी नही खानी चाहिये।

(102)

प्रश्न : हरा शाक आदि मिश्र हो अर्थात् पूर्ण रूपेण मिश्र का विश्वास हो जाय तो उसे साधु खा सकता है क्या ?

उत्तर : जिस हरी सब्जी आदि मे मिश्र की शका हो तो गृहस्थ के यहा पर ही अच्छी तरह गवेषणा कर लेनी चाहिये। कदाचित् गवेषणा के उपरान्त भी भिक्षा मे आ गयी हो तो उसे उपयोग मे नही लेना चाहिये।

(103)

प्रश्न : किसी गृहस्थ के घर मे पुस्तकें हो तो साधु उनको गृहस्थो द्वारा स्थानक मे मगा सकता है क्या ?

उत्तर : सतो को यदि पुस्तक की आवश्यकता हो तो उसे स्वय ही गृहस्थ के घर से जाच कर लेनी चाहिये। कदाचित् किसी गृहस्थ को कोई बात पूछनी हो तो उसके द्वारा लाई हुई पुस्तक देखकर उसे उत्तर दिया जा सकता है।

(104)

प्रश्न : साधु गृहस्थ को घडी के चाबी लगाने के लिये कह सकता है क्या ?

उत्तर : घडी आदि मे चाबी लगाने के लिये गृहस्थ को नही कहना चाहिए । भाषा समिति के अन्तर्गत इस प्रकार कह सकता है कि घडी बन्द है या बन्द हो गई है आदि ।

(105)

प्रश्न : बच्चे को झूला देती हुई बाई सदोष है या निर्दोष ?

उत्तर : झूला झूलती हुई अथवा झुलाती हुई बहिन को असुझती माना जाता है ।

(106)

प्रश्न . जो कपडा फटा हुआ नहीं है, किन्तु गला हुआ है, उस गले हुए कपडे को बिना जरूरत के यदि फाडे तो साधु को दोष लगता है या नही ?

उत्तर · बिना काम के चाहे जीर्ण हो अथवा नया, वस्त्र नही फाडना चाहिए । अजीव काय सयम की स्थिति से ध्यान रखना चाहिए ।

(107)

प्रश्न · यदि किसी कारण विशेष से साधु के पात्र मे सचित्त या मिश्र पानी गृहस्थ बहरा दे तब मालूम पडने पर साधु उस पानी को गृहस्थ को वापस लेने को कहे या परठ दे ? पात्र को पोछने या वैसा ही रखे ?

उत्तर : सचित्त अथवा मिश्र पानी पातरे मे आने पर जिस गृहस्थ के यहा से पानी लिया गया हो उसे इस प्रकार कहना चाहिए कि यह पानी हमारे काम नही आ सकता, हमको परठना पड़ेगा । इससे यदि गृहस्थ अपना विवेक बरत लेता है अर्थात् गृहस्थ स्वय अपने हाथ से वह पानी अपने बर्तन मे ले लेता है तो ठीक अन्यथा उसे परठ देना चाहिए । पात्र को पोछना नही चाहिए उसको औंधा खडा कर देना चाहिये ।

(108)

प्रश्न · गृहस्थादि को साधु-साध्वी इस प्रकार कह सकते हैं क्या कि अमुक पदार्थ खरीद कर ले आओ तथा अमुक की थोड़ी थोड़ी या अधिक-अधिक प्रभावना बाट दो ?

उत्तर · अमुक वस्तु खरीद कर लो अथवा अमुक वस्तु की प्रभावना बाटो आदि सावद्य भाषा का प्रयोग साधु-साध्वी के लिए वर्जनीय है ।

(109)

प्रश्न : साधु छीके मे पडी हुई वस्तु को ग्रहण कर सकता है क्या ?

उत्तर : छीके पर रखी हुई वस्तु साधु को उतरवा कर नही लेनी चाहिए ।

(110)

प्रश्न : सूर्यास्त के समय दवादि पडिहारी वस्तु गृहस्थ को भोलाते समय यदि गृहस्थ सामायिक आदि से युक्त हो तो साधु दवादि को सभला सकता है क्या ?

उत्तर दवादि पडिहारी वस्तुयें बनती कोशिश जहा से लायी गयी हो वही भोलानी चाहिए । कदाचित् सूर्यास्त का समय नजदीक आ गया हो और पडिहारी वस्तु के स्वामी की आज्ञा अन्य किसी को भी भोलादेने की हो तो सामायिक आदि मे स्थित गृहस्थ को भी पडिहारी वस्तु भोलाई तो जा सकती है ।

(111)

प्रश्न यदि कोई पुस्तक पडिहारी मगाई गई हो, लेकिन वह पुस्तक फटी हुई हो, वैसी स्थिति मे साधु उस पुस्तक को ठीक करने की भावना रखे तथा उस पुस्तक को ठीक करने के लिए कपडे की आवश्यकता हो तो क्या साधु अपनी नेश्राय मे रहे हुए वस्त्र को पुस्तक के लगा सकता है ?

उत्तर साधु पडिहारी पुस्तक लाया हो और वह फट गई हो तो साधु अपने पास का थोडा वस्त्र लगाकर उस ज्ञानवर्धक सामग्री को व्यवस्थित कर सकता है क्योकि उस समय वह पुस्तक उसके नेश्राय मे है । यदि साधु की नेश्राय मे नही हो तो जब तक नेश्राय मे नही ले ली जाय तब तक उसको ठीक नही कर सकते है ।

(112)

प्रश्न कोई अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी भगवन् से मन से प्रश्न पूछे और मन से ही उत्तर प्राप्त करे तो कैसे ?

उत्तर अवधिज्ञानी के मन से प्रश्न पूछने पर सर्वज्ञ प्रभु अपने मनोद्रव्य की तदनुरूप रचना करते हैं जिससे सर्वज्ञ प्रभु के मनोद्रव्य को देखकर अनुमान मे अवधिज्ञानी अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर लेता है ।

(113)

प्रश्न पाच प्रकार की नीलन-फूलन यदि सूखी हुई हो तो अटकती है या नहीं ?

उत्तर : शुष्क लीलन फूलन अचित्त होने से उसका अटकाव नही आता ।

(114)

प्रश्न : गर्मी मे पसीने के कारण शरीर व वस्त्रों पर जो फूलन आती है, वह सचित्त है या अचित्त ?

उत्तर पसीने के कारण गीली चादर के सूखने पर कभी-कभी जो दाग दीखते हैं वह तो पसीने के खार के कारण होते हैं । उसके अतिरिक्त यदि पसीना, पानी एव मिट्टी आदि के मिश्रण एव अविवेक मे फूलन हो तो वह सचित्त हो सकती है ।

(115)

प्रश्न चौमासे मे वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि के सिवाय और क्या-क्या नहीं ले सकते अर्थात् पेन, कापी, पुट्ठे, स्याही आदि ग्रहण कर सकते हैं या नहीं ?

उत्तर : जिन भी वस्तु मे सूत, ऊन आदि लगे हुए हो उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता । कापी मे भी यदि कपडा लगा हुआ हो तो वह नेश्राय मे नही लेना चाहिए । पडिहारी रूप से कपडे वाली पुस्तक आदि ली जा सकती है । प्लास्टिक लेना भी उपयुक्त नही है । पातरे यदि सूते के बन्धन से रहित हो तो लिया जा सकता है ।

(116)

प्रश्न : पहले दिन फरसे हुए घर से यदि दूसरे दिन भी भूल से आहार ले आवें और खाने के बाद वह याद आवे या मालूम पड़े तो उस फरसे हुए आहार को परठना चाहिए या खा लेना चाहिए तथा यदि भूल से खाने में आ गया हो तो क्या प्रायश्चित आता है ?

उत्तर : गोचरी जाने को विवेक रखना चाहिए कि कल का स्पर्शा हुआ घर नहीं स्पर्शा जाय । कदाचित् भूल से स्पर्श लिया गया हो तो उसका एक उपवास प्रायश्चित आता है । अन्य आधाकर्मी आदि सबल दोषों के अभाव में उसे परठने की आवश्यकता नही रहती ।

(117)

प्रश्न ' यदि दर्शनार्थी को आये एक सप्ताह नही हुआ हो तो भी मंजन, एनीमा आदि ले सकते हैं क्या ?

उत्तर : दर्शनार्थ आगन्तुक महानुभावो से असण पाण आदि खाद्य सामग्री आठ दिन पूर्व नही लेनी चाहिए। आठवे दिन लेना चाहे तो जैसा अवसर हो सोच सकते हैं। अन्य औषधि के रूप मे सामग्री यदि अन्यत्र उपलब्ध नही हो तो कारण विशेष से उसे ग्रहण किया जा सकता है।

(118)

प्रश्न सन्त किसी गृहस्थी के घर पर पहुचे, उस समय तवे पर रोटी पक रही है, बहिन का हाथ तवे पर नही है उस समय क्या सन्त ऐसा कह सकते हैं कि मैं दरवाजे पर खडा हू तुम तुम्हारा अवसर देख लो ?

उत्तर . तवे पर रोटी हो और बहिन से उसका सगटा नही भी होता हो तब भी सतो को ऐसा कहना नही कल्पता कि मैं दरवाजे पर खडा हू तुम अपना अवसर देख लो। ऐसा कहने से कराना एव अनुमोदन का मनसा-वाचा दोष लगता है।

(119)

प्रश्न . जो सन्त केले का सगटा मानते हैं वो सन्त या वह सती केले का पाना ले सकते हैं या नही ?

उत्तर · पका केला वृहत्कल्प सूत्र के अनुसार ग्राह्य है। जो इसे सचित्त मानते हैं उनकी यह धारणा आगम सम्मत नही कही जा-सकती। यदि कदाचित् कोई स्वेच्छाचार से केले को सचित्त मानता है तो केले के केवल टुकडे हो जाने मात्र से उसे ग्रहण नही कर सकते और न ही उस पर शक्कर आदि डालने मात्र से ग्रहण कर सकते है।

(120)

प्रश्न : वर्तनो को माज कर धोने से जो धोवन हुआ हैं। उस धोवन पानी को किसी मटकी मे रखा हुआ है तो मटकी मे रखा हुआ ग्रहण करना या नहीं ?

उत्तर · धोवन पानी यदि वर्तन आदि माज कर धोया हुआ हो और किसी भी वर्तन मे रखा हुआ हो उस वर्तन पर फूलन आदि न हो तो उसे साधु अपने कल्प के अनुसार ग्रहण कर सकते है। मटके मे रख दिया, इसलिए ग्रहण नही करना आगम सगत नही लगता।

(121)

प्रश्न देशावकाशिक व्रत और खाते-पीते पौषध मे कौन से पाठ का अन्तर है ?

उत्तर देशावकाशिक व्रत का देशावकाशिक व्रत की पाटी से प्रत्याख्यान किया जाता है तथा खाते-पीते पौषध का दयाव्रत के पाठ से प्रत्याख्यान किया जाता है। सवर एव दशवा पौषध इन सब का समावेश देशावकाशिक व्रत मे ही परम्परा से किया जाता है।

यथा —

> दिग्व्रत यावज्जीव, सवत्सर चातुर्मासी परिमाण वा।
> देशावकाशिक तु दिवस प्रहर मुहूर्तादि परिमाण ॥

अर्थात दिग्व्रत यावत् जीवन, सवत्सर अथवा चार माह की अवधि का होता है जबकि देशावकाशिक व्रत दिवस, प्रहर, मुहूर्त परिमाण का भी हो सकता है।

(122)

प्रश्न निशिथ सूत्र मे यह कहा गया है कि जो साधु गृहस्थ के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाता है तो उसे मासिक प्रायश्चित्त आता है, लेकिन साधु के साथ वैरागी साध्वी के साथ वैरागिन, या मार्ग बतलाने के लिए गृहस्थ साथ मे रहते है तो कैसे ?

उत्तर निशिथ सूत्र मे जो गृहस्थ के साथ चलने से प्रायश्चित्त का कहा है वह वैरागी अथवा मार्ग बताने वाले भाई से सम्बन्धित नही है। उसका तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ स्त्री पुत्र आदि परिवार सहित, जैसे देशाटन करते है, उस रूप से जो गृहस्थ चलते हैं, ऐसे गृहस्थ के साथ साधु को नही चलना चाहिए। अथवा परिवार सहित गृहस्थ को साधु अपने साथ अधिक मजिल तक नहीं रखे। एकाध मजिल लाने पहुचाने कोई जाता हो तो उसका प्रायश्चित्त नही है।

(123)

प्रश्न : साधु को जो वस्तु रात्रि मे रखना नही कल्पता वह वस्तु यदि भूल से रात्रि मे साधु के पास रह जाय तो क्या वह वस्तु दूसरे दिन साधु वापर सकता है ?

उत्तर : पेन आदि यदि रात्रि मे लौटाना भूल गए हो तो दूसरे दिन उसकी आज्ञा लेकर उपयोग मे लिया जा सकता है पर औषधि आदि, जो सदृश

रूप से उपलब्ध हो और वह यदि रात्रि मे पास रह गयी हो तो उसका उपयोग नही करना चाहिए, उसे परठ देना चाहिए ।

जो औषधि भूल से रात्रि को रह गयी हो वह यदि सहजतया उपलब्ध नही होती हो तो उसकी आज्ञा लेकर उपयोग मे ली जा सकती है । पर ऐसे प्रसगो की गुरु साक्षी से आलोचना भी कर लेनी चाहिए ।

(124)

प्रश्न : चातुर्मास से भिन्न मकान मे रात्रि विश्राम या दिन मे नीद लेने से शयातर मानना चाहिए क्या, एव उस घर की गोचरी का कैसे क्या मानना ?

उत्तर चातुर्मास हो या शेखे काल हो जिस मकान की आज्ञा ली है वह तो उसका शयान्तर है ही । यदि उस मकान को छोडकर अन्य गृहस्थो के निवास रहित मकान मे शयन, नीद आदि लेने की प्रक्रिया हो गई हो, तो उस मकान की जिसकी आज्ञा ली है, वह भी जब तक आज्ञा नही छोडी जाय तब तक शयान्तर कहलाता है । छोडने पर भी उसी गाव मे कुछ दिन रहना हो तो एक रात बीते बिना उसके घर का आहारादि नही लेना चाहिए ।

(125)

प्रश्न : एक ही पक्ष मे वृद्धि-हानि हो सकती है क्या ?

उत्तर यदा कदा तिथियो की एक ही पक्ष मे भी वृद्धि-हानि हो सकती है ।

(126)

प्रश्न : 32–28–24 कवलाहार को वर्तमान काल मे किस रूप मे लेना ?

उत्तर . कवलाहार का पुरुष के लिए 32 कवल व स्त्री के लिए 28 कवल का उल्लेख है । इसकी व्याख्या अलग-अलग तरह से की जाती है ।

1 जितनी जिसकी खुराक हो उस खुराक को खाने के लिए सभी वस्तुओ को एक साथ मिलाकर 32 अथवा 28 विभाग करके ग्रहण करना ।

2 जितना मु ह मे एक साथ लेकर के खाया जा सके उसको एक कवल गिनना ।

3 स्वाभाविक रूप मे जो कवल मु ह मे रखे जाते है वैसे 32–28 कवल ग्रहण करना ।

मुंह के अन्दर का कवल पहले उदरस्थ हो जाने पर द्वितीय कवल लेना चाहिए ।

(127)

प्रश्न : तिर्यंच को अवधि ज्ञान होता है । कौन से तिर्यंच को हुआ ?

उत्तर भगवती सूत्र शतक 8 एवं पन्नवणा सूत्र पद 33 में तिर्यंच पंचेन्द्रिय को मति, श्रुत, ज्ञान के अतिरिक्त अवधि ज्ञान होना भी बतलाया है । पर किस तिर्यंच को अवधि ज्ञान हुआ इसका स्पष्ट उल्लेख देखने में नहीं आया ।

(128)

प्रश्न : तीर्थंकर भगवान के पार्थिव शरीर का क्या होता है ?

उत्तर तीर्थंकर भगवान के पार्थिव शरीर का देव दाह-संस्कार कर देते हैं तथा जो राख, हड्डी आदि अवशेष रह जाते हैं उसे क्षीर समुद्र में ले जाकर बहा देते हैं ।

(129)

प्रश्न . लोगस्स का पाठ शाश्वत है अथवा अशाश्वत ?

उत्तर लोगस्स के मूल भाव शाश्वत हैं । प्रत्येक तीर्थंकरों के समय में उसकी परिणति होती है तथा ऐसी भी धारणा है कि अमुक तीर्थंकर के समय तक जितने तीर्थंकर होते हैं उन-उन का उसमें नाम संयुक्त कर दिया जाता है । जैसा कि भद्रबाहु स्वामी ने 24 तीर्थंकर हो जाने से 24 तीर्थंकरों का नाम इस उत्कीर्तन में संयुक्त किया ।

वैसे ही अन्यान्य तीर्थंकर के समय समझना चाहिए । परन्तु भावी के तीर्थंकरों का अथवा अन्य अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी काल के तीर्थंकरों का लोगस्स में नाम संयुक्त नहीं किया जाता ।

अनुयोग द्वार में इसका उत्कीर्तन नाम आया है । पर वर्तमान लोगस्स में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति होने से इसे चतुर्विंशति-स्तव कहा जाने लगा है ।

(130)

प्रश्न : तिथि घट गई हो तो उस दिन के [illegible] किस दिन [illegible] चाहिए, एक दिन पूर्व या [illegible] दिन ?

उत्तर ज्योतिष पचाग के अनुसार जो तिथि क्षय होती है उसका उपभोग उसकी पहली तिथि मे हो जाता है। यथा यदि अष्टमी का क्षय हुआ हो तो उस अष्टमी का सप्तमी के दिन घडियो की दृष्टि से उपभोग हो जाता है तदनुसार प्रत्याख्यान के विषय मे भी सोचना उपयुक्त रह सकता है।

(131)

प्रश्न : अलमारी मे रखे हुए रग पेंट सत अपने निमित्त से श्रावक से ताला खुलवाकर स्थानक के लिए रखी हुई वस्तु को कार्य मे ले सकते हैं क्या ?

उत्तर : रग वार्निश अथवा अन्य कोई भी वस्तु उत्सर्ग मार्ग मे साधु को तालादि खुलवा कर नही लेना चाहिये। स्थानक के निमित्त आयी हुई वस्तु जो साधु मर्यादा के अन्तर्गत हो और पुरसान्तर हो गयी हो तो स्थानक के अधिकारी की आज्ञा से ग्रहण की जा सकती है।

(132)

प्रश्न : सतो के लिए पाट पाटले इत्यादि श्रावक द्वारा ठेलो मे लाये जाने पर उपयोग मे ले सकते हैं क्या ?

उत्तर सतो के शहर मे प्रवेश करने के पश्चात् अथवा पूर्व मे कभी भी यदि सतो के निमित्त से पाट पाटले एक स्थान से अन्य स्थान पर रखे जाते हो तो सतो को उनका उपभोग नही करना चाहिए। यदि कदाचित सन्तो को इसकी जानकारी नही हो तो उनको ध्यान दिला देना चाहिए।

(133)

प्रश्न : सतो के पधारने के एक दिन पूर्व आगन लिपवाये जाने पर सतो द्वारा उसका उपयोग लेना कल्पता है या नही ?

उत्तर : स्थानक अथवा अन्य स्थान के आगन आदि को लिपवाने के वाद यदि वह पुरसान्तर हो जाता है तो सन्त वहा अपनी मर्यादानुसार ठहर सकते हैं। यदि पुरसान्तर नही हुआ हो तो उसका उपभोग नही करना चाहिए। पुरसान्तर का तात्पर्य यह है कि लिपवाने के वाद श्रावक वर्ग द्वारा सामायिक, सवर एव उठना-वैठना हो जाना।

(134)

प्रश्न : मक्खन छाछ मे नही हो, काफी समय से अलग वर्तन मे पडा है। उसको हाथ लगाकर हटा दें तो घर असुसता होता या नही ?

उत्तर : मक्खन छाछ मे अलग रखा हुआ ग्रहण नही करना चाहिये। यदि उसके कोई हाथ लगा दे अथवा इधर-उधर हटा दे तो वैसी स्थिति मे मक्खन को ग्रहण नही किया जाता। घर भी असूझता नही किया जाता ऐसी पूर्व की परम्परा है।

(135)

प्रश्न यदि किसी परिस्थिति विशेष मे साधु के पात्र मे सचित्त या मिश्र पानी गृहस्थ वहरा देवे। बाद मे मालूम पड़ने पर वह पानी आप ले तो ऐसा गृहस्थ को संकेत दे सकते हैं या नही ?

उत्तर सचित्त या मिश्र पानी के लिये यह कह सकते है कि पानी हमारे उपयोग मे नही आयेगा। इसका संघट्टा लगने से हम प्रायश्चित भी लेंगे तथा हमे परठना पडेगा। तब कोई गृहस्थ यह कहे कि मैं इसे वापस अपने भाजन मे ले लू। तब यह कह सकते हैं कि जैसा आप उचित समझें। वे अपने पात्र मे स्वय ले ले तो ठीक, अन्यथा साधु को यह नही कहना कि तुम इसे वापस ले लो। गृहस्थ के नही लेने पर उस सचित्त या मिश्र पानी को यथा योग्य प्रासुक स्थान पर परठ देना चाहिये और आलोचना करके प्रायश्चित कर लेना चाहिये।

(136)

प्रश्न साधु स्थानक या कमरे का झाड़ू निकालने के लिए कह सकता है क्या ?

उत्तर : सिर्फ साधु के काम मे आने वाले स्थान का साधु को स्वय ही उस स्थान का परिमार्जन रजोहरण से कर लेना चाहिए। बहुलता से श्रावक-श्राविका वर्ग के काम आने वाले स्थान को साफ रखने का विवेक गृहस्थ-श्रावक वर्ग के कर्तव्य क्षेत्र मे है। इस विषय मे श्रावक वर्ग प्राय सचेष्ट रहता ही है—कदाचित् किसी स्थान पर लापरवाही साधु देखे और उसको ज्ञात हो कि इसमें जन्तुओं की उत्पत्ति सम्भावित है तो उन जन्तुओं की उत्पत्ति के पहले ही अपनी मर्यादित भाषा मे गृहस्थ को विवेक दिया सकता है।

(137)

प्रश्न : जैसे पानी के लोक मे १८ पाप (अशुभ कर्म होने मे) कारण बताये गए है तो पुण्य (शुभ कर्म होने मे) के कितने स्पर्श होते है ?

उत्तर : पुण्य के दो भेद है—भाव पुण्य और द्रव्य पुण्य तथा कारण पुण्य और कार्य पुण्य।

भाव पुण्य आत्मा का शुभ अध्यवसाय है। उन शुभ अध्यवसायो से आत्मा के साथ सयुक्त होने वाला पुण्य कर्म द्रव्य पुण्य है।

कारण पुण्य के दो भेद हैं—अनन्तर कारण और परम्परा कारण। आत्मा का शुभ अध्यवसाय अनन्तर कारण है और परम्परा कारण अन्नादिक नव प्रकार है।

कार्य पुण्य—आत्मा से सयुक्त शुभ कर्म रूप द्रव्य तथा उसका फल।

उपर्युक्त पुण्य के भेदो मे शुभ कर्म रूप आत्मा से सयुक्त जो पुण्य फल देने योग्य द्रव्य कर्म है वह चतु स्पर्शी है और ससारी आत्माओ मे पाता है।

(138)

प्रश्न गुणस्थान द्वार मे अविरत सम्यक् दृष्टि को अधर्मी अपण्डित, अधर्म व्यवसायी आदि कहा गया है। जवकि वह मोक्ष मार्गी है। प्रतिक्षण उसके सवर-निर्जरा भी है। तत्वादि का यथार्थ श्रद्धान व भूमिकानुसार आचरण भी है। फिर उसे निन्दनीय क्यो कहा ?

उत्तर : आपने सम्यक्त्वी के लिए जो विशेषण लिखे हैं वे विशेषण थोकडो की पुस्तको मे एक से लगा कर चौथे गुणस्थान के प्राणियो तक के लिए हैं। यह किस आशय के लिए आये हैं यह तो लेने वाले के अभिप्राय पर निर्भर है किन्तु सामान्य रूप से चौथे गुणस्थान तक का कथन कर दिया हो और यह सोचा हो कि जव इसका विशेष वर्णन करेंगे तव चौथे गुणस्थान तक की स्थिति स्वत: स्पष्ट हो जावेगी। जो कुछ भी अभिप्राय रहा हो यह विशिष्ट ज्ञानियो के ज्ञान का विपय है।

अस्तु वीकानेर सेठिया ग्रन्थालय से प्रकाशित गुणस्थान द्वार की पुस्तक मे सामान्य रूप से उल्लेख कर नीचे टिप्पणी देते समय विशेष उल्लेख किया है कि—"इस द्वार मे गुणस्थान का तात्पर्य उस गुणस्थान वाले जीव से है। जैसे पहले गुणस्थान मे आठ वोल पाते है इसका मतलव यह है कि पहले गुणस्थान वाले जीव मे आठ वोल पाते हैं।"

इस वात की पुष्टि लुधियाना से प्रकाशित दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र—छट्ठी दशा मे मिथ्यात्व का विशेप वर्णन करते हुए लिखा है कि "आत्मा मिथ्या दृष्टि होकर किस प्रकार पाच आश्रवो मे प्रवृत्ति करता है—"

से भवति महिच्छे महारंभे · अहम्मेण चेव वित्ति कप्पमाणे विहरइ।

मूलार्थ —"वह नास्तिक अतिलालसा वाला, महान् आरम्भ करने वाला, अधिक परिग्रह वाला, अधार्मिक, अधर्मानुगामी, अधर्म सेवी, अधर्मिष्ठ, अधर्म मे प्रसिद्धि वाला, अधर्मानुरागी, अधर्म देखने वाला, अधर्म मे आजीविका करने वाला, अधर्म के लिए पुरुषार्थ करने वाला और अधार्मिक शील समुदाचार वाला होता है तथा अधर्म से ही आजीविका करता हुआ विचरता है।" पृ० १८१

इसके अगले पृष्ठो मे देसण पडिमा अर्थात् सम्यक्त्व प्रकरण मे कहा है— "सव्वधम्मरुइया विभवति तस्सण वहूइ · · · · एव दसण पडिमा उवासग्ग पडिमा।"

मूलार्थ—प्रथम दर्शन पडिमा मे सर्व धर्म विषयक रुचि होती है किन्तु उससे बहुत से शील व्रत, गुणव्रत, विरमण प्रत्याख्यान, पौषधोपवास सम्यक्तया आत्मा मे स्थापन नही किये होते हैं। इस प्रकार उपासक की पहली दर्शन प्रतिमा होती है। पृ० २१७

ठाणाग सूत्र के दूसरे ठाणे मे भी श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का जो उल्लेख है। उसमे सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा को श्रुत धर्म माना गया है और वह सम्यक् दृष्टि मे भी पाया जाता है। इसमे चतुर्थ गुणस्थान वर्ती जीव को एकान्त अधर्मी आदि के रूप मे मानना योग्य प्रतीत नही होता। क्योकि सम्यक् दृष्टि भाव मोक्ष अवस्था की प्रथम भूमिका है। यदि प्रथम भूमिका को एकान्त अधर्मादि मे मान लिया जाय तो मूल मे ही भूल का प्रसग आ सकता है।

(139)

प्रश्न : चवदहवें गुणस्थान में योग निरोध माना है तो फिर वहां गुणस्थान नहीं, क्यों है ?

उत्तर : चतुर्दश गुणस्थानवर्ती आत्मा एक दृष्टि से केवल ज्ञान, केवल दर्शन एवं क्षायिक सम्यक्त्व आदि गुणों के साथ सम्यक्त्व की पराकाष्ठा पर होती है। अतः उस समय वेदनीय कर्म की प्रकृतियों का भी उदय माना गया है। वह उदय तो अपना मुख्यतया शरीर पर प्रभाव दिखाता ही है परन्तु उस परिपूर्ण अवस्था की विशुद्धि पर रहने वाली आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों में बाधा नहीं पहुंचा सकता। जैसे छद्मस्थावस्था में क्षुधा वेदनीय कर्म का प्रभाव शरीर पर प्रकट होता है पर यदि छद्मस्थ आत्मा का उपयोग उधर न जाय अथवा समभाव से सहन करे तो उसका अनुभव कम या नहीं सा होता है। वैसे ही ऊपर के गुणस्थानों में भी यही बात समझनी चाहिये। क्योंकि गजसुकुमार मुनि आदि को भी अन्तिम समय में वेदनीय कर्म का प्रादुर्भाव हुआ था। वेदनीय कर्म

उदय मे आते हुए रूक नही सकते । अत चतुर्दश गुणस्थान वर्ती आत्माओ मे वेदनीय कर्म का उदय भी होता है।

दूसरी वात चतुर्दश गुणस्थान में सर्वथा योग क्रिया प्रारम्भ मे शान्त नही है अत उसमे शीत, उष्णादि परिषह उत्पन्न होने मे कोई वाधा जैसी वात नही है ।

(140)

प्रश्न : द्रव्य और तत्त्व मे वास्तविक अन्तर क्या हैं ?

उत्तर : एक दृष्टि से द्रव्य और तत्त्व एकार्थक पर्यायवाची शब्द हैं। तदपि सूक्ष्मता से चिन्तन किया जाय तो अविवक्षित पर्याय वाले पदार्थ को तत्त्व कहा जा सकता है और विवक्षित पर्याय वाले पदार्थ को द्रव्य की सज्ञा दी जा सकती है । प्रचलित व्यवहार में धर्मास्तिकाय आदि ६ द्रव्य को द्रव्य रूप मे एव नव तत्त्व को तत्त्व रूप मे कहा गया है।

नव तत्त्व मे धर्मास्तिकाय आदि का साक्षात् ग्रहण नहीं किया गया है और षड द्रव्य मे नव तत्त्व का विस्तृत विवेचन नही है तथापि गौण रूप मे एक दूसरे के प्रसग से एक दूसरे का समावेश हो जाता है ।

(141)

प्रश्न : प्रत्येक वस्तु मे कितने निक्षेप एक साथ पाये जाते हैं और कौन-कौन वन्दन पूजन के योग्य हैं ?

उत्तर : प्रत्येक चेतन व जड वस्तु मे यथार्थ विवेचन के समय चार निक्षेप पाये जाते है । यथा नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव, नाम से जीव । स्थापना से असख्यात प्रदेशी जीव की अवगाहना । द्रव्य से असख्यात प्रदेशी जीव द्रव्य । भाव से उपयोगादि चैतन्य गुण ।

पुद्गल से निर्मित वस्तु मे भी चारो निक्षेप पाये जाते हैं यथा नाम से पाट, स्थापना से पाट का आकार, द्रव्य से लकडी, भाव से वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एव वैठने की योग्यतादि ।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे चारो ही निक्षेप घटाये जा सकते है । भाव सहित चारो निक्षेपो का एक ही वस्तु मे पाना यथार्थ वस्तु स्वरूप प्रतीक है । भाव रहित तीन निक्षेप वस्तु स्वरूप के यथार्थ द्योतक नही हो सकते । और चारो ही निक्षेप एक दूसरे से निरपेक्ष हो तो उन निक्षेपो का कोई मूल्य नही है । स्पष्टता से कहा जाय तो तीनो निक्षेप भाव निक्षेप के पूरक हैं ।

वन्दनीय, पूजनीय अवस्था चैतन्य से सम्बन्धित है। वन्दनीय स्वरूप को चैतन्य आत्मा ही जानता है, जड नहीं। अतः वन्दन चारित्र प्रधान चैतन्य को ही होता है। भाव निक्षेप के अभाव मे नाम आदि तीनो निक्षेप सयुक्त रूप से व पृथक् रूप से यथार्थ स्वरूप के द्योतक न होने से वन्दनीय, पूजनीय नही हैं।

(142)

प्रश्न : मनुष्य की १४ लाख योनियो की गिनती किस प्रकार की गई है ?

उत्तर . मनुष्य ७०० प्रकार के माने जाते हैं। उनसे १४ लाख योनिया फलित होती हैं। वे इस प्रकार हैं—७०० प्रकार के मनुष्य पाच वर्ण वाले होने से ७०० × ५ = ३५०० भेद हुए। ३५०० ही सुगन्ध-दुर्गन्ध वाले भी होते है। अत. ३५०० × २ = ७००० भेद हुए। पाच रस वाले होने से ७००० × ५ = ३५००० और ८ स्पर्श वाले होने से ३५००० × ८ = २८०००० तथा ५ सठाण वाले होने से २८०००० × ५ = १४००००० लाख योनिया मनुष्य की होती हैं।

(143)

प्रश्न : लज्जा को ढक लेना परिषह है या लज्जा को जीतना परिषह है ?

उत्तर लज्जा आन्तरिक भावो से सम्बन्धित अवस्था है। उस अवस्था को केवल ढक देने मात्र से ही जीतना नही है बल्कि उस अवस्था को ज्ञान दृष्टि से सशोधित करना भी जीतना है।

आच्छादन तो शरीर का सम्भव है जो कि आवश्यक है क्योकि वस्त्र रहित शरीर से लज्जा के वैभाविक भाव पैदा होते हैं। वे आच्छादन से अर्थात् वस्त्र सहित शरीर से नही होते बल्कि शमन होने मे सहायक होते हैं।

यथा नवीन आश्रवो को रोक कर पुराने आश्रवो को शमित किया जाता है वैसे ही वस्त्र सहित अवस्था मे नवीन लज्जा का प्रादुर्भाव नही होता और पूर्व मे कई प्रसगो से सचित लज्जा के भावो का शमन होता है।

तात्पर्य-लज्जा पैदा करने वाले कारणो को आच्छादित करना अर्थात् ढकना एव लज्जा के भावो को ज्ञान द्वारा सशोधित करना लज्जा परिषह जीतना है।

(144)

प्रश्न [illegible]

उत्तर : वीतराग दशा की अवस्था से भव्यो के कल्याणार्थ प्ररूपित व्रत प्रत्याख्यान आदि आत्म शुद्धि हेतु जो स्वीकार करता है वह आश्रव को रोक कर पूर्व सचित कर्मो की निर्जरा करता है। अर्थात् पाप कर्मों को आत्मा से विलग करता है।

उक्त विवेचन के अनुसार सम्यक् ज्ञान पूर्वक आचरण द्वारा पापो को खण्डित करने वाला पाखण्डी कहलाता है। वस्तुतः स्व आत्म स्वरूप को प्राप्त करने वाला होने से स्व पाखण्डी कहलाता है।

किन्तु जिन व्यक्तियो को वीतराग धर्म के माध्यम से वस्तुत मोक्ष प्राप्ति का मार्ग नही मिला हैं पर उनकी अन्तरआत्मा मोक्ष के लिए लालायित रहती है और सही मार्ग के अभाव मे एकान्तवादी या स्वर्ग को ही मोक्ष मानने वाली परम्पराओ के प्रसग से व्रत प्रत्याख्यान भी कर लेते है। उनसे वस्तुत मोक्ष प्राप्त न होकर पुण्य के प्रसग से स्वर्गादि की प्राप्ति हो सकती है।

पर वे व्यक्ति मिथ्या मत वाले होते हुए भी अपने आप मे यह समझते हैं कि हमने पापो को खण्डित (विलग) करने वाले प्रत्याख्यान कर रखे हैं। एतदर्थ वे भी पाखण्डी तो कहलाते हैं किन्तु वह अवस्था वीतराग दशा रूप स्व स्वरूप को प्राप्त कराने की अपेक्षा भौतिक सुख रूप वैभाविक सुख का कारण होने से पर पाखण्डी कहलाती हैं।

सम्यक् श्रद्धा वाला सच्चा साधक ऐसे पर पाखण्डी की प्रशसा एव सस्तव करता है तो इससे लगता है कि वह भी उसका अनुयायी बनता है तथा वीतराग देव के मार्ग से भटक कर भौतिक (पौद्गलिक) प्राप्ति की ओर लगता है जो कि उस आत्मा के लिए अहितकर है। अत सम्यक् मति वाले साधक को मिथ्या मति वाले साधक से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—विवज्जणा बालजणस्स दूरा"।

जो भी सम्प्रदाय एकान्त रूप से स्वमन कल्पित मिथ्यामत का पोषण करने के लिए हठाग्रह के साथ प्रचलित है उसको पर पाखण्ड की श्रेणी मे समझा जा सकता है। चाहे वह कोई भी सम्प्रदाय क्यो न हो।

(145)

प्रश्न : मिथ्या दृष्टि जीवो मे भी ब्रह्मचर्य, सयम, तप, त्याग, सरलता आदि गुण दिखलाई देने पर गुण की अपेक्षा से वह पूजनीय है या नही ?

उत्तर : पूजनीय के दो अर्थ किये जा सकते हैं। एक जो वीतराग प्ररूपित मोक्ष मार्ग मे गमन वाला सयमी विशिष्ट पुरुष है वह आध्यात्मिक दृष्टि मे

पूजनीय एवं वंदनीय है। दूसरा जो एकान्त मत के पकड पूर्वक ब्रह्मचर्य आदि गुणों को जीवन मे स्थान देता है वह लौकिक दृष्टि से वंदनीय, पूजनीय माना जाता है। पर उसकी दिशा सही न होने से वीतराग देव के मोक्ष स्वरूप की दृष्टि से वंदनीय, पूजनीय नही हो सकता।

(146)

प्रश्न : सम्यग्दृष्टि को त्याग-प्रत्याख्यान नहीं होता तो क्या वह सप्त कुव्यसन आदि लोक विरुद्ध पाप कार्यों का भी सेवन करता है ? यदि करता है तो उनकी भूमिका से विरुद्ध तो नही है ?

उत्तर : सप्त कुव्यसन का सेवन नही करना सम्यक्त्व की भूमिका के अन्तर्गत है। अत सम्यक्त्वी को सप्त कुव्यसन का सेवन नही करना चाहिये। जिस व्यक्ति मे सप्त कुव्यसन का सेवन है उसमे सम्यक्त्व की न्यूनता समझनी चाहिये। एकान्त. सम्यक्त्व का अभाव नही। क्योकि दशाश्रुत स्कन्ध दशा ६ सूत्र १८ मे सम्यग्दृष्टि के लिए महारम्भी, महापरिग्रही विशेषण भी आया है।

(147)

प्रश्न : आत्मा और भाव मन मे क्या अन्तर है ? यदि दोनो एक है तो अरिहन्त व सिद्धो मे क्यो नही होता ? यदि दोनो भिन्न है और भाव मन पर द्रव्य मन है तो उसे अपने वश मे क्यो करना चाहिये ?

उत्तर : भाव मन आत्मा की शक्ति विशेष है और भाव मन और आत्मा अपेक्षा से गुण-गुणी की तरह भिन्न भी है और अभिन्न भी। भाव मन रूप शक्ति विशेष अरिहन्त की अवस्था के पहले वैभाविक परिणति से परिणत होने के कारण उस शक्ति विशेष का विकृत रूप अनुभव मे आता है किन्तु जब घन घाती कर्म आत्मा से विलग हो जाते है तब उस शक्ति विशेष का पृथक् अनुभव नही होता। यही बात सिद्ध अवस्था मे भी समझनी चाहिये।

द्रव्य मन पौद्गलिक संरचना है और यह (द्रव्य मन) भाव मन की शक्ति से ही कार्यकारी होता है। द्रव्यमन के अभाव मे भाव मन स्वयं कोई संकल्प-विकल्प आदि नही कर सकता।

अतएव गुण दृष्टि से भावमन, द्रव्यमन, ये आत्मीय कहा जा सकता है। भावमन जितना-जितना संशोधित होता जाता है उतना-उतना द्रव्यमन नियन्त्रित होता जाता है।

केवली अवस्था मे स्वयं के संशोधन हेतु द्रव्य मन की उपयोगिता नही रहती। क्योकि चार घन घाती कर्म के अभाव से आत्मा की परिपूर्णता प्रगट हो जाती है।

केवली अवस्था मे वाणी के माध्यम से पर कल्याणार्थ उपदेश मे आ सकता है पर स्वय के लिए आवश्यक न होने से द्रव्य मन की कैवल्यावस्था मे गिनती नही होती।

भाव मन के न्यूनाधिक रूप में अशुद्ध रहने पर कल्पनाओं पर नियत्रण नही होने से मानो द्रव्य मन, भाव मन के ऊपर है, ऐसा भाषित होता है, किन्तु वस्तुत द्रव्य मन को भाव मन की विशुद्धि के साथ नियत्रित किया जा सकता है।

(148)

प्रश्न : आत्म प्रदेशो पर लगे हुए सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाने पर वे प्रदेश दीपक के प्रकाशवत् सारे लोकाकाश मे क्यो नही फैल जाते ? अन्तिम शरीर के कुछ प्रमाण करके क्यो रहते हैं ?

उत्तर : आत्म प्रदेश मे कपन, सकोचन, प्रसारण पर पदार्थ के निमित्त से प्राय· वनता रहता है। पर पदार्थों के सर्वथा विलग हो जाने पर सकोचन, प्रसारण आदि कार्य नही होते क्योकि ये कार्य पर निमित्तापेक्ष हैं। अत सम्पूर्ण आवरण नष्ट हो जाने पर आत्म प्रदेशो की शरीर के अनुपात से जो अवगाहना वनती है, वह स्वाभाविक स्थिरता को प्राप्त हो जाती है तथा आत्म प्रदेश परस्पर सापेक्ष होते हैं। इसलिए वे सारे लोकाकाश मे विखर नही सकते।

(149)

प्रश्न : स्थानकवासी समाज द्रव्य पूजा मानता है या नही ? यदि मानता है तो उसका स्वरूप किस आगम के अनुसार किस प्रकार मान्य है ?

उत्तर स्थानकवासी समाज पदार्थो से होने वाली द्रव्य पूजा नही मानता। पर आत्मिक विकास हेतु अपने से चारित्रादि विशिष्ट गुण निष्पन्न व्यक्ति का आदर, सत्कार, सम्मान, वन्दनादि करने मे तत्पर रहता है। भाव शून्य वन्दन को उपचार से द्रव्य पूज्या माना जा सकता है।

(150)

प्रश्न : शहद व मधु को मास व मदिरा की भाति महा विगय माना गया है। क्या साधु-साध्वी उनका उपयोग कर सकते हैं ?

उत्तर : आगम मे शहद व मधु को महा विगय माना गया है। यह वात सही है पर अभक्ष्य नही माना गया है। महा विगय होने से शहद व नवनीत को निस्कारण नही लेना चाहिये। लेकिन मास व मदिरा महा विगय के साथ-२ अभक्ष्य होने से सर्वथा त्याज्य हैं।

कभी कोई यह तर्क कर सकता है कि मास और मदिरा यदि अभक्ष्य हैं और शहद व नवनीत अभक्ष्य नही है तो अभक्ष्य के साथ इनको क्यो रखा ?

यहां चिन्तनीय बात यह है कि शास्त्रकारो की यह एक शैली है कि एक जातीय चीजो को एक साथ गिना देते है पर इतने मात्र मे सभी चीजे हेय या उपादेय नही होती है । शहद और मक्खन को मद्य एव मास के साथ जो गिनाया गया है वह महा विगय रूप एक जातियता की दृष्टि से गिनाया गया है न कि भक्ष्य-अभक्ष्य की जातियता की दृष्टि से । यथा स्थानाग सूत्र के चौथे ठाणे मे चार प्रकार के ध्यान बतलाये है ।

"चउविहे झाणे पण्णत्ते तजहा अट्टझाणे रुद्दझाणे, धम्मझाणे, सुक्कझाणे"

यहा ध्यान जातियता की दृष्टि से चारो ध्यान हैं पर उपादेयता की दृष्टि से चारो ही ध्यान ग्राह्य नही है । आर्तरौद्र ध्यान हेय है और धर्म, शुक्ल ध्यान उपादेय हैं । इसीलिए ध्यान पूर्ण करते समय कहा जाता है कि ध्यान मे आर्तरौद्र ध्यान ध्याया हो तो "मिच्छामि दुक्कड" यहा पर भी कोई तर्क करे कि ध्यान कहा गया है । अत चारो ग्राह्य होना चाहिये । पर यह तर्क बिल्कुल निर्मूल है । इसी प्रकार विगय के विषय मे भी क्षीर-नीर विवेकिनी बुद्धि के अनुसार समझना योग्य है ।

(151)

प्रश्न : तत्त्वार्थ सूत्र के नवम अध्याय मे धर्म ध्यान बारहवें गुण स्थान तक होना बतलाया है, जबकि शुक्ल ध्यान का आरम्भ आठवें से माना गया है । यह अन्तर क्यो ?

उत्तर : शुक्ल ध्यान का प्रारम्भ आठवे से बतलाया है पर गौण रूप मे धर्म ध्यान भी चालू रहता है क्योकि धर्म ध्यान को शुक्ल ध्यान की भूमिका के रूप मे भी लिया जाता है । जैसा कि सूत्र है—

"एकाश्रये सवितर्के पूर्वे , वितर्कः श्रुतम्"

इसमे शुक्ल ध्यान के पूर्व के जो दो पाये हैं, वे वितर्क (श्रुत) के आश्रित होते हैं । और श्रुत मे आज्ञा, अपाय, विपाक संस्थान का समावेश है जो कि चारो ही धर्म ध्यान के मुख्यतया भेद हैं, और इसी श्रुत पूर्वक शुक्ल ध्यान के दो पाये लिये गये है । जो बारहवें गुणस्थान तक पाये जा सकते हैं । अतः आठवें गुणस्थान से शुक्ल ध्यान का प्रारम्भ एव बारहवें तक धर्म ध्यान का अस्तित्व मानने मे उपर्युक्त दृष्टिकोण से कोई विशेष परिवर्तन नही होता । जैसे श्रुत ज्ञान मति पूर्वक होता है । बिना मति के श्रुत ज्ञान नही है ।

यथा—"श्रुत मति पूर्वं द्वयनेक द्वादशभेदम्"

इसी प्रकार शुक्ल ध्यान के दो पायो का आधारभूत जो श्रुत है। उस श्रुत के सहारे ही शुक्ल ध्यान के दो पायो का चिन्तन है। श्रुत का पर्यायवाची वितर्क है।

(152)

प्रश्न : अरिहत पद सिद्ध आदि की भाति अस्ति वाचक न होकर नास्ति वाचक क्यो लिया ? "नमो सर्व साण" ऐसा पद रखा जाता तो क्या आपत्ति ?

उत्तर : तीर्थ करो के उपदेश की मुख्यतया दो शैली रही हुई हैं। निषेध रूप और विधेय रूप। जैसे असत्य नही बोलना, यहा निषेध की प्रधानता है और सत्य वोलना यहा विधेय की प्रधानता है। इन दोनो तरह से सत्य की परिपूर्ण व्याख्या होती है।

इसी तरह नमस्कार मन्त्र मे केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि की दृष्टि से अरिहत और सिद्ध पद दोनो समान है। फिर भी चार घनघाती कर्मों को नष्ट करने वाले अरिहत पद को नास्ति यानि निषेध की प्रधानता से लिया गया है और वही आत्मा सिद्धावस्था मे अनन्त चतुष्टय से युक्त होने से सिद्ध पद को आस्ति यानि विधेय की प्रधानता से लिया गया है।

(153)

प्रश्न : पुण्य शुभ कर्म है तो तत्त्व श्रद्धाल की अपेक्षा शुभाश्रव उपादेय की कोटि मे आ सकता है। यदि नही तो इतना मतभेद क्यो ?

उत्तर : पुण्य के विषय मे तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन अपेक्षित है। परिपूण मोक्ष की आराधना मे वज्रऋषभ नाराच सहनन आदि की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है। वज्रऋषभ नाराच सहनन एव औदारिकादि शरीर की प्राप्ति पुण्य का फल है। जब तक मोक्ष प्राप्त न हो जाय, तब तक इसको नही त्यागा जाता। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति मे औदारिक शरीर आदि सहायक होने से पुण्य उपादेय भी है।

जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के २३वें अध्ययन मे वतलाया है—

शरीर माहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो॥

समुद्र के पश्चिम किनारे स्थित व्यक्ति पूर्व के तट पर स्थित भव्य भवनो मे जाने हेतु किसी मुज्ञ पुरुष से जानकारी प्राप्त करता है। उस जानकारी मे उसको ज्ञात होता है कि समुद्र के इस तट पर पाषाण की एव काष्ठ की नावे

रही हुई है। पत्थर की नौका को ग्रहण नही करना। पर काष्ठ की नौका को जानकर ग्रहण करना है और समुद्र के तट पर जाकर इसे छोड़ना है।

इस प्रकार हेय, ज्ञेय, उपादेय की त्रिपुटी पूर्वक पाषाण की नौका को त्याज्य और काष्ठ की नौका को ग्राह्य जानकर काष्ठ की नौका को ग्रहण करता है तो वह व्यक्ति भव्य भवनो को पा सकता है।

ठीक इसी प्रकार ससार समुद्र को पार कर मोक्ष रूपी भव्य भवन को पाने के लिए पुण्यानुबन्धी पुण्य एव पुण्य फल की यथास्थान आवश्यकता है। लेकिन जो इसी को एकान्त चरम लक्ष्य मान लेता है, वह भी वीतराग देव की आज्ञा का आराधन नही कर सकता। और एकान्त सर्वथा हेय समझता है, वह भी दुर्नय की कोटि मे पहुच जाने से ससार मे भटकने की अवस्था मे रहता है।

इन उपर्युक्त दृष्टिकोणो से पुण्य हेय भी है ज्ञेय भी है और उपादेय भी। इस स्याद्वाद दृष्टिकोण को यथा रूप मे समझने पर सभी मतभेद समाप्त हो जाते हैं।

(154)

प्रश्न : सामान्य केवलियो को कुछ परम्पराए अरिहत पद मे वन्दन करती हैं और कुछ साधुपद मे वन्दना करती हैं। यह अन्तर क्यो ?

उत्तर : इस विषय पर किंचिदपि गहराई मे चिन्तन किया जाय तो यह विषय स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

एक दृष्टिकोण यह है कि शास्त्रीय धरातल पर गुणस्थानो को सन्मुख रख कर चिन्तन किया जाय। साधारण केवली हो या तीर्थंकर। उनके तेरहवा आदि गुणस्थान माने गये हैं और छट्ठे आदि गुणस्थानवर्ती साधक को छद्मस्थ साधु माना गया है। ये दोनो अपने वन्दन की अपेक्षा नही रखते। पर वन्दन करने वाले विवेकी पुरुष पर निर्भर है कि वे तीर्थंकर केवली और साधु के स्वरूप को समझ कर उन्हे यथा स्थान नमस्कार करें। यदि कोई विवेक के दीपक को बुझा कर तेरहवें आदि गुणस्थानवर्ती केवलियो को छट्ठे गुणस्थान आदि साधक की श्रेणी मे लाकर वन्दन करता है तो क्या यह उनकी केवलियो की अशातना नही है ?

यह तो ऐसा ही हुआ कि प्रिंसिपल को अध्यापक अथवा छात्रो मे साथ बैठाकर वन्दन करना।

इस नमस्कार मन्त्र की ओर देखें। प्रथम पद मे "णमो-अरिहताण" कहा है। इसका अर्थ है घन-घाती कर्मों का नाश करने वालो को नमस्कार हो।

इसमे व्यक्तिगत रूप से न तो तीर्थ कर को लिया गया है और न सामान्य केवली को। पर घन-घाती कर्म नाश दोनो करते हैं। अत अरिहत पद से दोनो ही वन्दनीय हैं। अगर अरिहत पद से तीर्थ कर ही अभीष्ट हो तो फिर "णमो-अरिहताण" के स्थान पर "णमो तित्थयराण" ही कह देते।

अत स्पष्ट है कि सामान्य केवली भी अरिहत पद मे ही (नमस्कारणीय) वन्दनीय है।

(155)

प्रश्न : आहार सज्ञा बिना आहार होना सभवित नही है। फिर केवली को कवलाहार किस प्रकार सभवित है ?

उत्तर जिन भगवान मे ग्यारह परिषह माने गये है यथा तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—"एकादशजिने" इसमे क्षुधा परिषह भी है जो कि वेदनीय जन्य है। अत मोह जनित सज्ञाओ से भिन्न क्षुधा वेदनीय परिषह के उदय से कवलाहार होता है। अत मोह रहित आहार सज्ञा केवली मे बाधक नही है। क्योकि जब क्षयोपशमिक ज्ञान दर्शन चारित्र की वृद्धि मे भी आहार सज्ञा बाधक नही है तो फिर क्षायिक ज्ञान मे कैसे बाधक हो सकती है ? ज्ञान के होते हुए भी शरीर से सम्बन्धित व्यवहार तो शरीर के रहने पर यथा स्थान होता ही है।

(156)

प्रश्न : आचार्य स्कन्धक के शिष्य एव गजसुकुमाल आदि उपक्रम लगने से काल धर्म को प्राप्त हुए फिर उन्हें योग्य क्रमी कैसे माना जाय ?

उत्तर : शस्त्रीय दृष्टिकोण से आयु दो प्रकार का माना गया है। अनपवर्तनीय आयु और अपर्वतनीय आयु। नारकी, देवता, त्रिषष्ठी श्लाका पुरुष चरम शरीरी आत्मा व युगलिकादि अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं।[१] इनसे भिन्न अपर्वतनीय, अनपर्वतनीय दोनो आयु वाले हो सकते हैं। उपक्रम दोनो मे लग सकते हैं। अन्तर इतना ही रहता है कि अनपवर्तनीय आयु के उपक्रम लगने पर भी अवधि के पूर्व आयुष्य जल्दी नही भोगा जाता। किन्तु अपर्वतनीय आयु मे उपक्रम द्वारा आयु की अवधि के पहले भी भोगा जा सकता है।

गजसुकुमाल आदि के उपक्रम लगने पर भी अनपवर्तनीय आयुष्य वाले थे। पर आयु उनका उतना ही था। अत उपक्रम लगने के साथ ही आयुष्य के क्षय हो जाने से सहसा ऐसा लग सकता है। किन्तु वास्तविकता मे तो वे अनपवर्तनीय आयुष्य वाले ही थे।

---

१ औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरुपाऽसख्यय वर्पा युपोऽनपवर्त्यायुप तत्त्वार्थ २–/५२/

प्रश्न : दिगम्बर परम्परा काल द्रव्य के असंख्यात अणु मानती है। श्वेताम्बर नही मानते तो कालाणु के बिना काल द्रव्य का अस्तित्व किस प्रकार सम्भव है?

उत्तर : इसमे प्रथम बात यह उठती है कि जब दिगम्बर परम्परा काल के असंख्यात अणु मानती है तो फिर उसको कालास्तिकाय क्यो नही मानती ? यथा असंख्यात प्रदेशी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय।

यदि असंख्यात अणु माना जाय तो वे कालाणु अनन्त द्रव्य को कैसे प्रवंताते हैं अर्थात् नये को पुराना कैसे करते हैं ? एक-एक कालाणु भी एक द्रव्य को प्रवंतावे तो फिर अनन्त कालाणु माना जाय, क्योंकि द्रव्य अनन्त भी है।

अगर अनन्त कालाणु मान लेते हो तो फिर अस्तिकाय का कथन होना चाहिये। पर ऐसा शायद दिगम्बर सम्प्रदाय को भी अभीष्ट नही है क्योंकि शास्त्रों मे पंचास्तिकाय का ही उल्लेख है। षट् द्रव्य की दृष्टि से काल द्रव्य को लिया गया है पर काल द्रव्य का अस्तित्व स्वतन्त्र न होकर आपेक्षिक है।

यथा घडी का काटा एक से लेकर बारह अंक पर्यन्त घूमता है और उसके अनुसार सेकिण्ड, मिनिट, घण्टे आदि समय जाना जाता है।

यहां कुछ गंभीरता से सोचना है कि घडी के काटे की पर्याय का परिवर्तन हुआ उसी को घण्टे आदि कह दिया जाता है पर घडी के पास काल नाम का स्वतन्त्र तत्त्व नही है।

इसी प्रकार अढाई द्वीप मे सूर्य आदि की गति पर्याय से काल की गणना कर ली जाती है न कि सूर्य की गति आदि पर्याय से भिन्न काल नाम का कोई स्वतन्त्र द्रव्य है। इसका फलितार्थ यह है कि एक परमाणु की एक पर्याय के परिवर्तन को समय माना जाता है। अत. जितने द्रव्य माने जाते है उन द्रव्यो की अवस्था मे समय का अस्तित्व अपेक्षा से माना है न कि धर्मास्तिकाय आदि की तरह स्वतन्त्र द्रव्य।

दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत 'नियमसार' के अजीव अधिकार की 36वीं गाथा मे कहा है—

"कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जम्हा"

अर्थात् काल को कायत्व नहीं है क्योंकि वह एक प्रदेशी है।

इसकी टीका करते हुए पद्मप्रभ मलधारी ने कहा है—"कालस्यैक प्रदेशो भवति अत कायत्वमस्य नास्ति न भवति अपितु द्रव्यत्वमस्त्येवेति।"

काल का एक प्रदेश होता है अत उस कारण से इसका (काल का) कायत्व अर्थात् कालास्तिकाय नही होता। अपितु काल द्रव्यत्व ही है।

अत. इस प्रमाण से तो दिगम्बर परम्परा मे भी काल को एक प्रदेशी माना गया है। एतदर्थ आपके कथन से तथा उपर्युक्त प्रमाण से यह भाषित होता है कि दिगम्बर परम्परा मे काल विषयक मान्यता एक समान नही है।

(158)

प्रश्न : मिथ्यादृष्टि जीवो को अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय रहता है फिर उनके स्वर्ग की आयु कैसे वन्धती है ?

उत्तर : जैसे विष-विष मे अन्तर होता है। कोई अल्प सत्व वाला तो कोई अधिक सत्व वाला, इसी प्रकार अनन्तानुवन्धी भी कई प्रकार का है। कोई हल्का अनन्तानुवन्धी तो कोई भारी अनन्तानुबन्धी। जो हल्का अनन्तानुबन्धी होता है उसमे शुभ भाव भी आते जाते रहते हैं।

वाचक उमास्वाति ने कहा है कि "शुभ पुण्यस्य" अर्थात् शुभ भावो से पुण्य का वन्ध होता है। जव अत्यधिक पुण्य का सचय हो जाता है तो उसका उपभोग दीर्घकाल तक होता रहता है और ऐसे दीर्घकाल तक अत्यधिक पुण्य का उपयोग स्वर्ग से अतिरिक्त अन्यत्र नही हो सकता।

इसके अतिरिक्त भगवती सूत्र मे अभवी की गति नव ग्रैवेयक तक वतलायी है। उसमे प्रथम गुणस्थान होता है। जिसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जाता है। उस गुणस्थान मे अनन्तानुवन्धी कषाय का सद्भाव रहता ही है। अत अनन्तानुवन्धी कषाय मे देवायुष का वन्ध होना आगम से विरुद्ध नही है।

(159)

प्रश्न सम्यक् दर्शन आत्मा के दर्शन गुण की शुद्ध पर्याय है जो आत्म प्रदेशो मे प्रकट होती है। पर आधुनिक काल के आचाय व मुनिगण सम्यक्त्व दिला कर अपने को गुरु मनवाते है, वह सम्यक्त्व कौन सी है ?

उत्तर आत्मा मे मिथ्यात्व की जो अशुद्ध पर्याय है, उस अशुद्ध पर्याय को शुद्ध कैसे किया जाय। क्योकि मिथ्यात्व के उदय मे मिथ्यात्व का वन्ध होता रहता है। इसलिए उसकी आत्म पर्याय मिथ्यात्व के रूप मे वनी रहती है। जैसे कि खेती मे वीज वोया, एक दाना अकुरित हुआ। फिर उसके दानो को वोने पर अनेक दाने पैदा होते हैं। वैसे ही मिथ्यात्व रूप अशुद्ध पर्याय उदय रूप वीज तुल्य उत्पन्न होती है और फिर वह फलित होने पर अनेक वीजो के तुल्य मिथ्यात्व की प्रकृतियो का वन्ध प्राय होता रहता है। इस प्रकार उदय और

बन्ध का सिलसिला चलते रहने पर कभी भी सम्यक्त्व की शुद्ध पर्याय का प्रसग अभव्य की तरह बन ही नही सकता । लेकिन शास्त्रकारो ने भव्य-अभव्य की अवस्था का भी विश्लेषण किया है । भव्यात्माओ के भी निकाचित बन्ध की अवस्था मे फल का भोग करना आवश्यक बन जाता है । पर निकाचित बन्ध की अवस्था से भिन्न बन्ध की अवस्था में उद्वर्तना, अपवर्तना करण से उनको न्यूनाधिक किया जा सकता है । उनके न्यूनाधिक होने मे मुख्यतया दो निमित्त शास्त्रकारो ने बतलाये है—

एक तो स्वाभाविक रूप से कर्मो की अवधि समाप्त हो जाने पर या दब जाने पर सम्यक् दर्शन होता है । वह निसर्ग सम्यक् दर्शन कहलाता है । और दूसरा गुरुजनो के उपदेश से जो होता है उसे अधिगम सम्यक् दर्शन कहा है । जैसा कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है—

"तन्नि सर्गादधि गमा द्वा" अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वभाव से अथवा दूसरो के उपदेश से उत्पन्न होता है ।

दिगम्बर समाज द्वारा प्रकाशित मोक्ष शास्त्र मे इसका विवेचन करते हुए कहा है कि किसी जीव को आत्मज्ञानी पुरुष का उपदेश सुनने पर तत्काल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है और किसी को उसी भव दीर्घकाल मे या दूसरे भव मे उत्पन्न होता है । जिसे तत्काल सम्यक् दर्शन उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यक् दर्शन कहते हैं । और जिसे पूर्व के संस्कारो से सम्यग्दर्शन होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

इस प्रकार एक दृष्टि से निसर्गज भी पूर्व जन्मान्तर मे उपदेश जनित एव क्षयोपशम निमित्तक ही होता है । इसमे अन्तर तत्क्षण अथवा दीर्घकाल का ही रहता है ।

स्वय प्रभु महावीर ने भी सकडाल पुत्र के स्थान पर पहुँच कर सकडाल पुत्र को आदेशादि के माध्यम से आत्मिक शुद्ध पर्याय को प्रकट कराते हुए मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व का बोध दिया तथा चण्डकौशिक सर्प के बिल पर पहुँच कर उसे सम्यक्त्व का यथार्थ बोध प्रदान किया ।

यही नहीं अपितु भगवान् महावीर स्वामी ने अपने अन्तिम समय मे भी देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने के लिए गौतम स्वामी को उसके स्थान पर भेजा ।

श्री प्रभव स्वामी ने भी शय्यंभव स्वामी को ब्राह्मण अवस्था मे रहते हुए बोधित करने के लिए अपने शिष्यो को भेजा, ऐसा प्राचीन इतिहास मे वर्णन मिलता है ।

इस विषयक प्रतिबोध देने का कार्य मुख्यतया आचार्य पर ही निर्भर रहता है। क्योकि तीर्थ करो के वाद शासन के उत्तराधिकारी वे ही होते हैं अत शासन हित की दृष्टि से एव भव्य जीवो को प्रतिबोधित करने के लिए निस्वार्थ भाव से वे यथायोग्य शास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने रख कर सम्यक्त्व प्रदान करते हैं।

जहाँ आचार्य के पहुँचने की स्थिति न हो वहाँ उनके आज्ञाकारी सन्तो को भी भव्यो को प्रतिबोधार्थ भेज सकते है। जैसे कि महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी को भेजा था एव प्रभव स्वामी ने अपने शिष्यो को भेजा।

लेकिन सन्त जो कुछ भी बोध देते हैं, वह शासनपति की नेश्राय मे ही प्रतिवोध देते हैं न कि व्यक्तिगत अवस्था मे। क्योकि शासनपति के नाम से सम्यक् वोघ की पर्याय पैदा करने मे व्यक्ति की शासन-निष्ठा एव नि स्वार्थ भावना का द्योतन होता है।

उपदेशादि से जो आत्म प्रदेशो मे सम्यक्त्व प्रकट होता है वह आत्म प्रदेशो तक ही सीमित न रह कर मन एव वाणी के माध्यम से बाहर भी प्रकट होता है। यह बात सम्यक्त्व सूत्र से स्वत स्पष्ट है।

जैसा कि सम्यक्त्व सूत्र मे शास्त्रकारो ने बतलाया है—

"अरिहतो महदेवो जावज्जीवाए सुसाहुणो,
गुरुणो जिण पण्णत्त तत्त इय सम्मत मए गहिय।"

इस सूत्र मे सम्यक्त्व ग्रहण करने वाला सम्यक्त्व को स्वीकार करता हुआ कह रहा है कि—अरिहत मेरे देव है। सुसाधु २७ गुण के धारक मेरे गुरु है। जिनेन्द्र देव प्ररूपित मेरा धर्म है। यह सम्यक्त्व मैं जीवन पर्यन्त के लिए ग्रहण करता हूँ।

इस प्रकार के स्वीकृत सूचक शब्द से यह ध्वनित होता है कि सम्यक्त्व आत्म प्रदेशो तक ही सीमित न रही अपितु वाणी के माध्यम से स्वीकृत हुई। तो स्वीकार कराने वाला भी अवश्यभावी है। वह स्वीकार कराने वाला वीतराग प्रभु के अनुशासन के अनुरूप शासन को सभालने वाला शास्ता एव उस शास्ता की आज्ञा मे रहने वाला निर्ग्रन्थ सुसाधु के रूप मे भूमण्डल पर विचरण करता हुआ शासनपति के अन्तर्गत भव्य प्राणियो को सम्यक्त्व देकर प्रतिवोधित करता है, वह शास्त्रानुकूल है।

शासनपति के केन्द्रियकरण के अतिरिक्त व्यक्तिगत सम्यक्त्व का वोध दी जाने की जो चेष्टा की जाती है कि "मैं तुम्हारा गुरु हूँ, तू मेरा चेला है" वह

कथन तीर्थेश जिनेन्द्रदेव के अभिप्राय के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। क्योंकि वीतराग देव का शासन चतुर्विध संघ के अन्दर रहने वाली कषायिक वृत्ति को शमन करने का होता है, न कि केन्द्रीयकरण शासन से विपरीत व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति हेतु यह कार्य सम्पन्न कर संघ को विघटित करना। अर्थात् सांसारिक अवस्था के समान अलग-अलग परिवार के रूप में संघ की शक्ति को विखण्डित करना जो कि वीतराग सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

आधुनिक युग में विधिवत् अनुशासन का पालन नहीं करने वाले एवं व्यक्तिगत स्वार्थ एवं यशलिप्सा के आधीन होकर सम्यक् बोध के नाम पर अलग-अलग साधुओं द्वारा अलग-अलग शिष्य बनाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, वह योग्य नहीं है।

(160)

प्रश्न : ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा व अज्ञान दो परिषह होते हैं। मुनि में अज्ञान तो नहीं, फिर यह परिषह क्यों?

उत्तर : सत्पुरुषार्थ के परिणाम स्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से प्रज्ञा विकसित होती है। विकसित प्रज्ञा का प्रभाव प्रबुद्ध वर्ग पर पड़ना ही है। वे जब अपनी जिज्ञासाओं को संतृप्त करने के लिए मुनि के पास समुपस्थित होते हैं तब तर्क-वितर्क का सिलसिला भी चल पड़ता है। प्रश्न का उत्तर योग्य तरीके से देने पर तथा श्रोता के संतोषप्रद हो जाने पर उत्तरदाता मुनि को अपनी प्रज्ञा पर अहंकार वृत्ति का प्रादुर्भाव होना भी प्रज्ञा परिषह का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति हेतु सतत पुरुषार्थ करने पर भी बोध प्राप्त न हो, तब खिन्नतावश आर्त की स्थिति पैदा हो जाय कि इतना पुरुषार्थ करने पर भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो रही है। अत. ऐसे ज्ञान में क्या रखा है। जैसे कि लोकोक्ति प्रचलित है—"पठितव्य तदपि मरितव्य न पठितव्य तदपि मरितव्यम्" इस प्रकार ज्ञान चरित्रादि के प्रति अरुचि होना अज्ञान परिषह कहलाता है।

अज्ञानी के कारण अज्ञान परिषह होना हो ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि बाईस परिषह में स्त्री परिषह भी बताया है जबकि स्त्री साधु के पास होती नहीं।

अगर अज्ञानी होने से ही अज्ञान परिषह माना जाय तो स्त्री के होने पर ही स्त्री परिषह होगा। किन्तु यह सम्भव नहीं है। तात्पर्य मुनि में अज्ञान तो नहीं है फिर भी उपर्युक्त दृष्टिकोण से अज्ञान परिषह हो सकता है।

प्रश्न : आत्मा का चरम लक्ष्य सिद्धावस्था है। उसमे आत्मा किस प्रकार के सुख की अनुभूति करती है ?

उत्तर · कर्म सहित अवस्था मे इन्द्रिय से सम्वन्धित मन जिन तत्त्वो को ग्रहण करके अनुभव करता है उससे सर्वथा भिन्न अनुभूति सिद्धो के होती है। क्योकि पर-सापेक्ष अनुभव मे वास्तविक सुख की अनुभूति नही होती। पर पदार्थ का अवलम्वन होने से परतन्त्रता की अनुभूति के साथ स्वय की अनुभूति विकृत हो जाती है। अत सच्ची आत्मिक अनुभूति नही हो पाती।

जब चार घन घाती कर्मो के क्षय होने पर दिव्य केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ अवशेष कर्मों को क्षय कर आत्मा सर्व सासारिक वन्धनो से विनिर्मुक्त होकर आत्मिक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है तव उस अवस्था मे परावलम्विता से हट कर आत्मा सदा सर्वदा स्वतन्त्रता के सुख की अनुभूति करती है जो कि सभी सासरिक सुखो से परे है।

ऐसे सुख की अनुभूति सासारिक किसी भी पदार्थ से नही की जा सकती और न पाच इन्द्रियो से ग्राह्य ही हो सकती है। ऐसे सुख को जानने के लिए तर्क व मति भी काम नही कर पाती। जैसा कि आचाराग सूत्र मे कहा है—

"तक्कातत्थनविज्जइ, मइतत्थन गाहिया।"

इतना ही नही अपितु मोक्ष सुख सम्पूर्ण श्रुत अवधि एव मन पर्याय ज्ञान का भी अविषय है। क्योकि उस प्रकार की अनुभूति का साक्षात् ज्ञान नही हो सकता। अतएव उसको अनिर्वचनीय सुखानुभूति कह सकते हैं।

मोक्ष सुख की वात तो दूर रही। कई रूपी पदार्थों से होने वाली आनन्दानुभूति को भी शव्दादि के द्वारा अभिव्यक्त नही किया जा सकता।

जैसे—जगली व्यक्ति ने कभी अपनी जिन्दगी मे कलकत्ता आदि शहरो को नही देखा—वह अचानक कभी न्यूयार्क सरीखे समृद्धि शाली शहर मे चला जाय, और वहा पहुच कर कभी आस्वादन न किये गये पदार्थो को खाता है और पाच इन्द्रियो से होने वाले उच्चतम आनन्द का अनुभव लेता है। ततश्च जव वह पुन गहरे जगल मे पहुचता है तव उसके अन्य साथी जिन्होने कि कभी भी इस प्रकार का अनुभव नही किया और न करने वाले हैं वे जव यह पूछ वैठते है कि तुम कहां गये और वहा क्या सुख की अनुभूति हुई ? कैसा सुख है आदि। तव वह जगली पुरुष यही कहता है कि मैंने वहुत सुख पाया आदि आदि किन्तु उसका यथार्थ वर्णन करके समझा नही पाता।

वह तो क्या ! दुनिया का सबसे बड़ा विद्वान् जो कि बृहस्पति के तुल्य भी क्यों न हो। वह भी अपनी विद्वत्ता की अनुभूति एवं पर पदार्थ जन्य अनुभूतियों को अन्य को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता तब पाच इन्द्रिया एवं मन आदि के माध्यम से सिद्धावस्था के सुख का उल्लेख कैसे किया जा सकता है अर्थात् नहीं किया जा सकता। सिद्धावस्था का सुख तो मात्र अनुभव गम्य है। जिस प्रकार घी का आस्वादन किया जा सकता है पर बतलाया नहीं जा सकता। हॉ, कुछ अनुभूति के आधार से यत् किंचित् रूपेण तुलनात्मक विशेषताओं से आभास कराया जा सकता है।

एक तरुण पुरुष पर्याप्त शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक आदि श्रम से थका हुआ है, वह श्रम के अनुरूप पर्याप्त भोजन कर गादी तकियों के सहारे प्रगाढ निद्रा के वशीभूत हो जाय। जिसमे स्वप्नादि भी न आये। ऐसी प्रगाढ निद्रा को लेकर जब वह श्रमिक उठता है तब उसे कोई यह पूछ लेता है कि आज कैसा आनन्द रहा तो वह कहता है कि बहुत आनन्द रहा। फिर वह पूछता है कि आनन्द कैसा था तो जवाब देता है उसको तो मैं कह नहीं सकता। शब्दों द्वारा उसका वर्णन करना कठिन है।

उस प्रगाढ निद्रा की अवस्था मे उस तरुण ने न कुछ भी श्रवण किया, न कोई रूप देखा, न कोई गंध सूंघी। न किसी प्रकार का रसास्वादन किया। न स्पर्श जन्य अनुभूति की न मानसिक कल्पना आई और न स्वप्नादि की सृष्टि ही देखी। फिर भी वह पाच इन्द्रिय और मन का व्यापार न होने पर भी उस सुख अवस्था की अनुभूति कर रहा था और जगने पर उस अनुभूति का उल्लेख जिह्वा द्वारा नहीं कर पाता है।

इस प्रकार का अनुभव प्रगाढ निद्रा का अनुभव है किन्तु साधक जागृतावस्था मे विवेक ज्ञान के साथ ऐसा अनुभव करने लग जाय तो उस प्रकार के अनुभव से सिद्ध अवस्था के सुख का आंशिक रूप से आभास कर सकता है।

जिस आंशिक आभास से वह यह अनुमान कर सकता है कि निरञ्जन निराकार निरामय सिद्धावस्था मे अनन्त सुख की अवस्था किस रूप से आत्मा मे समाहित है।

अतः सिद्धावस्था के सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता और न बतलाया ही जा सकता है। केवल उसका अनुभव ही किया जा सकता है। जिसका आंशिक रूप से अनुभव ध्यान योग की साधना करने वाले उत्कृष्ट साधक कर सकते हैं।

(162)

प्रश्न : [illegible] ?

उत्तर : धर्म एव सस्कृति के आविर्भाव के काल-निर्धारणा के अनुचिन्तन को मानव सस्कृति एव मानवीय सभ्यता के प्रादुर्भाव से भिन्न नही किया जा सकता है। मानव जीवन के साथ धर्म का सम्बन्ध अनादि काल से अनुबन्धित है। अत धर्म अथवा धार्मिक परम्पराओ के सदर्भ मे ऐतिहासिक चिन्तन इतना अधिक महत्त्व नही रखता है तथापि सामान्य जन-मानस अर्वाचीनता एव प्राचीनता के परिप्रेक्ष्य को अधिक महत्त्व प्रदान करता है, अत साधुमार्ग की ऐतिहासिक स्थिति पर चिन्तन भी अपेक्षित है और इसे ही यहा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

जागतिक अवधारणाओ मे कुछ अवधारणाए ऐसी हैं जिन्हे शाश्वत सत्य (Universal truth) के रूप मे माना जाता है। धर्म किंवा साधुमार्ग भी उन्ही अवधारणाओ मे एक है। चूकि चेतना के सर्वागीण विकास अथवा चरमोत्कर्ष रूप परम साध्य की अवाप्ति (उपलब्धि) का सन्देश इस धर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य है, अत इस धर्म का आत्मधर्म से तादात्म्य होना आनुसगिक ही हो जाता है। इस मौलिक तथ्य के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुचते है कि साधुमार्गीय धर्म को ऐतिहासिकता के साथ सम्बद्ध करना वैसा ही बेतुका है, जैसा कि मुर्गी और अण्डे के प्रथम होने का प्रश्न।

इतिहास का कार्य है सभ्यता एव सस्कृति के स्मृति-चिह्नो को सहेजना और उन्हे कालबद्धता के साथ अनुबन्धित करना। साधुमार्ग कोई सस्कृति एव सभ्यता का नाम नही है। उसका सम्बन्ध जीवन के शाश्वत सत्यो से है, अतएव उसे हम ऐतिहासिकता के घेरे मे नही बाध सकते है। सीधे शब्दो मे साधुमार्ग प्रागैतिहासिक धर्म ही नही है, वह अपनी आदि को अनादि की कुक्षि मे निमज्जित पाता है।

इतिहास एव प्रागितिहास की भी कुछ सीमा-रेखाए हैं। साधुमार्ग उन सीमाओ के सकुचित दायरे से परे ही नही, बहुत परे है, तथापि आविर्भाव एव तिरोभाव अथवा ह्रास एव विकास के परिप्रेक्ष्य मे जब इसकी ऐतिहासिकता पर चिन्तन गतिशील होता है तो हम निम्न निष्कर्ष पर पहुचते है —

जैन दर्शन के अनुसार काल की अनवरत परिक्रमा को परिगणित करने के लिये काल को उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी षट् आरो (काल-खण्डो) के रूप मे विभक्त किया है। तदनुसार प्रथम तीन कालखण्डो (आरो) के व्यतीत होने पर भोग भूमिक जीवन व्यवस्था के उपरान्त कर्मभूमिक जीवन निर्वाह की प्रणाली प्रारम्भ होने पर तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव ने इस साधुमार्ग की परम्परा के प्रति जनमानस को प्रेरित किया था। अत यह कहा जा सकता है कि इस अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा से भगवान् ऋषभदेव इसके उद्गाता आविर्भावकर्ता है।

इसके पश्चात् उत्तरवर्तीकाल मे भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् महावीर तक के तेइस तीर्थ करो ने अपने-अपने शासन मे साधुमार्ग का प्रतिपादन किया था। इस तथ्य को स्पष्ट करने का मौलिक आधार है, नमस्कार मंत्र।

नमस्कार महामत्र सार्वभौमिक है। वह समग्र जैन समाज को एक स्वर से मान्य है। इसे आगमो का मूल बीज कहा जाता है। यह द्वादशागी का सारभूत तत्त्व है। इसमे सम्पूर्ण अग-उपाग समाहित हो जाते हैं। इसमे भी प्रचलित जैन धर्म साधुमार्ग के रूप मे ही फलित होता है।

इस नमस्कार महामत्र मे पाच पद है :—

णमो अरिहताण
णमो सिद्धाण
णमो आयरियाण
णमो उवज्झायाण
णमो लोए सव्व साहूण।

इन पांच पदो मे द्वितीय पद सिद्ध भगवान् का है और अवशेष चार पद साधु के है। पाचवा पद तो सव्वसाहूण होने से साधु का है ही। अन्य प्रथम, तृतीय एव चतुर्थ पद भी साधु रूप है, क्योकि उपाध्याय, आचार्य और अरिहत भी सयमी होते हैं, चारित्र-सम्पन्न होते हैं। ये भी सामान्य साधु की तरह प्रव्रज्या अगीकार करते है और साधना-पथ पर अग्रसर होते हुए, जैसे-जैसे गुणो का विकास करते जाते हैं, वैसे-वैसे उपाध्याय, आचार्य आदि पद से सुशोभित हो जाते है, परन्तु मूल मे इन तीनो मे भी साधुता तो है ही, इसलिए इनको साधु पद मे भी सम्मिलित किया जाता है जैसा कि—

सिद्धाण नमो किच्चा सजयाण च भावओ।

(उत्तराध्ययन २०-१)

यहा पर नमस्कार मत्र स्थित पाचो पदो को सिद्ध और सयति (साधु) इन दो पदो मे शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार अरिहत आदि चार पद साधु के होते है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामान्य साधु मे जब अमुक-अमुक गुणो का विकास हो जाता है और वह आचार्य पद पर आसीन हो जाता है, तब वह आचार्य के रूप मे सम्बोधित होने लगता है तथा यथाख्यात चारित्र-सम्पन्न सयति जब घनघाती कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लेते है अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाते है तब उस विशिष्ट अवस्था प्राप्त सयति को अरिहत, आचार्य और उपाध्याय ये पदविया विशेषण है, जो साधु की अमुक-अमुक अवस्था की परिचायक है परन्तु मूल मे तो सभी साधु ही है।

जैसे मनुष्य-मनुष्य एक होते हुए भी राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, मुख्य मन्त्री आदि पदो पर आसीन होने से उस-उस पदवी से सबोधित होते हैं, इसी प्रकार यहाँ मनुष्य की तरह सामान्य रूप से सभी साधु हैं परतु 'अरिहत' आदि पद की दृष्टि से तद्-तद् रूप मे सम्बोधित किये जाते हैं।

साधु के अरिहत, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन चार पदो मे सर्वोत्कृष्ट साधु अरिहत होते हैं और वे ही भव्य को मोक्ष मार्ग प्रदान करते हैं। इसलिए स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि 'साधो आगत मार्ग' साधु मार्ग' अर्थात् साधु से जो मार्ग आया अथवा साधु ने जो मार्ग-बतलाया, वह साधुमार्ग के रूप से प्रचलित हुआ।

इसके अतिरिक्त आगमो मे भी भगवान् के प्रवचन को निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा गया है तथा भगवान् को भी 'श्रमण' शब्द से सबोधित किया है यथा —

"तएण से सुबाहुकुमारे समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए धम्म सोच्चा णिसम्म हट्टतुट्ठे उट्ठाए उट्ठइ उट्ठिता जाव एव वयासी-सद्दहामिणे भते णिग्गथ पावयाण .... ।"

—सुखविपाक

इसमे भगवान महावीर को "श्रमण" कहा है। साथ ही उनके प्रवचन को निर्ग्रन्थ प्रवचन कहा है। भगवान की देशना श्रवण कर सुबाहुकुमार भगवद्वाणी पर श्रद्धान करता हुआ भगवान के समक्ष ही कहता है कि हे भगवन्! मै निर्ग्रन्थ प्रवचन-साधु द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग मे श्रद्धा करता हू। इससे भी साधुमार्ग फलित होता है। इस प्रकार का उल्लेख अन्य भी कई आगमो मे पर्याप्त रूप से मिलता है। श्रावक को भी भगवदोपासक या जिनोपासक नही कहते हुए श्रमणोपासक कहा गया है। इससे भी साधुमार्ग ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन साहित्य-'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' आदि ग्रन्थो में भी साधुमार्ग को प्राचीन स्वीकार किया है।

साधुमार्ग की प्राचीनता जान लेने पर यह जिज्ञासा प्रस्फुटित होना स्वाभाविक है कि आज जो दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि अनेक सम्प्रदाय दृष्टिगत होते है उनका आविर्भाव कब और कैसे हुआ? इस विषयक विस्तृत जानकारी 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' आदि से की जा सकती है परन्तु जिज्ञासा शमनार्थ सक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करना अप्रासगिक नही होगा।

प्रभु महावीर के जन्मराशि पर भस्मग्रह एव पचमकाल के प्रभाव से इसमे उतार-चढाव होने स्वाभाविक थे। इसी प्रसग को लेकर कल्पसूत्र मे बतलाया गया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो का पूजा-सत्कार उदय-उदय नही होगा।

"जप्पभिइ चण से खुद्दाए भासरासी महग्गहे दो वास सहस्सठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्म नक्खत्त सकते तप्पभिइ चण समणाण णिग्गयाण निग्गथीणाय नो उदिए उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ।" (कल्पसूत्र)

प्रभु महावीर के निर्वाणोपरान्त ६०० वर्ष तक साधुमार्ग निराबाध गति से चल रहा था, परन्तु वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी मे इस साधुमार्ग मे से एकान्त मान्यता के कारण एक शाखा विलग हो गई जो शरीर पर वस्त्र नही रखने के कारण 'दिगम्बर' के नाम से प्रचलित हुई। इसके विलग होने का समय वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष बाद का बतलाया जाता है।

'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' मे इसका उल्लेख इस प्रकार आया है—

"वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे अविभक्त जैन श्रमण-सघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विशाल शाखाओ मे विभक्त हो गया था। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी नि ६०९ (वि स १३९) मे दिगम्बर मत की स्थापना हुई।"

साधुमार्ग मे चलने वाले सयत आगमानुकूल श्वेत परिधान से युक्त होने से श्वेताम्बर के नाम से सम्बोधित होने लगे। यह श्वेताम्बर उस समय साधुमार्ग का ही उपनाम था।

उसके पश्चात् वीर निर्वाण सातवी शताब्दी के उत्तरवर्ती समय मे बारह वर्ष का भयानक दुष्काल पड़ा, जिसमे साधुमार्गी समाज को भी काफी क्षति हुई। अनेक श्रमण श्री भद्रबाहुस्वामी के साथ उत्तर-भारत से दक्षिण-भारत मे विहार करके चले गये परन्तु जो श्रमण उस दुष्काल के क्षेत्र मे स्थित रह गये, वे अपनी स्थिति मे सुरक्षित नही रह पाये जिसके परिणाम स्वरूप आगे चलकर वीतराग देवो की मूर्ति एव मन्दिर आदि के निर्माण का प्रसग उपस्थित हुआ और इसी समय मे श्वेताम्बर साधुमार्ग दो भागो मे विभक्त हो गया। जो विभाग मदिर की आस्था स्वीकार करने लगा वह मूर्तिपूजक (चैत्यवासी) के नाम से प्रचलित हुआ। इसका समय वीर निर्वाण से ६६० वर्ष के लगभग का बतलाया जाता है। परन्तु वीर निर्वाण सवत् ८८२ मे तो इसका स्पष्ट रूप मे विभक्तीकरण हो गया था जैसा कि "जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' मे लिखा है।

"श्वेताम्बर परम्परा का मुनि-समुदाय वीर निर्वाण ८८२ (वि स ४१२) मे दो भागो मे स्पष्ट रूप से विभक्त हो गया था। एक पक्ष चैत्यवासी सम्प्रदाय के नाम से और दूसरा पक्ष सुविहित मार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्यवासी मुनि समुदाय मे शिथिलाचार को समर्थन देने लगे थे।" जो साधु स्वपर कल्याण आगमानुसार पूर्व की तरह ही आचरण एव प्ररूपणा पद्धति को अपनाये रहा, वह

क्वचित् सुविहितमार्गी एव स्थानक आदि मे स्थित रहने से स्थानकवासी के नाम से प्रसिद्धि पाने लगा। इस प्रकार मुख्यतया दक्षिण भारत मे स्थानकवासी एव सुविहितमार्गी के रूप मे साधुमार्ग पल्लवित पुष्पित होता रहा और उत्तर भारत मे यति-समाज का प्रावल्य रहा। वीर प्रभु को जन्मराशि पर लगे भष्मग्रह की परिसमाप्ति पर वीर लोकाशाह ने जन्म लिया और लघुवय मे ही अपने कुशाग्र बुद्धिवल से राज-सम्मान प्राप्त किया। 'घटना विशेष से ससार से उदासीन होकर आत्मचिन्तन मे लगे।' तत्कालीन गृहस्थ वर्ग के लिये 'पढे सूत्र तो मरे पुत्र' की लौकिक मान्यता को गौण करके आपने जैनागमो का अध्ययन किया। जैनागमो के अध्ययन से आपके अन्तर्चक्षु खुल गये, जिससे आपने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और उसका प्रचार-प्रसार करना शुरू कर दिया। इस प्रकार उन्होंने उत्तर भारत मे पुन क्राति का नाद फूका और साधुमार्ग का प्रचार-प्रसार किया परन्तु उन्होने कोई नया मार्ग नही चलाया। अनेको भव्यो ने आपसे जैनागमो का वास्तविक विवेचन श्रवण कर साधुमार्ग मे भागवती दीक्षा अगीकार की और २२ विभागो (सगाटको) मे विभक्त होकर अलग-अलग क्षेत्रो मे विचरण करके साधुमार्ग को विकसित करने लगे। एक दूसरे सगाटक का आवागमन की कठिनाई के कारण विशेष सम्पर्क नही हो पाने से लम्वे समय तक अमुक क्षेत्र विशेष मे ही विचरण रहने से, अलग-अलग दीक्षाए होते रहने से वे ही सगाटक वावीस सम्प्रदाय अथवा (२२) बावीस टोला के नाम से प्रचलित हुआ।[1] तत्कालीन यति समाज की ओर से उनको काफी उपसर्ग भी आये। एक वार ठहरने को योग्य मकान उपलब्ध नही होने से टूटे-फूटे मकान मे ठहरे, जिसे तत्कालीन भाषा मे ढूढा कहा जाता था। उस ढूढे मे ठहरने से साधुमार्गी सतो को 'ढुढिया' कह कर भी पुकारा जाने लगा। अत. स्थानकवासी, वावीस सम्प्रदाय, वावीस टोला और ढुढिया सव साधुमार्ग के ही उपनाम है।

इस प्रकार अनेक सकटो को सहन करता हुआ अपने उपनामो मे प्रसिद्धि पाता हुआ साधुमार्ग अनवरत गति से चल रहा था कि वीर निर्वाण सवत् २२८० के आसपास आचार्य श्री रघुनाथजी ने कटालिया के श्री भीखणजी स्वामी नामक शिष्य को दयादान की सिद्धान्त-विपरीत प्ररूपणा के कारण सघ से वहिष्कृत कर दिया। गुरु से वहिष्कृत हो जाने पर उन्होंने एक नये पथ की स्थापना की जो 'तेरहपथ' के नाम मे समाज के समक्ष आया।

इस तरह साधुमार्ग से अनेक सम्प्रदाय, पथ, मत विभक्त होते गये परन्तु मूल साधुमार्ग आज भी सुरक्षित गतिमान है और प्रभु महावीर की वाणी के

---

[1] पूज्य श्री धर्मदासजी म मा की सम्प्रदाय २२ विभागों मे विभक्त होने से २२ सम्प्रदाय अथवा २२ टोला नाम प्रचलित हुआ ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है।

अनुसार इस भरत क्षेत्र मे इक्कीस हजार (२१,०००) वर्ष तक निरन्तर चलता रहेगा।

"जम्बू दीवेण भन्ते! दीवे भारएवासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाण केवत्तिय काल तित्थे अणुसिज्जस्सइ गोयमा! जम्बूदीपे भारएवासे इमीसे ओस्सप्पिणीए मम एग विस वास सहस्साइ तित्थे अणुसिज्जस्सइ।"

(भगवती शतक २० उ० ६)

यद्यपि महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से तो साधुमार्गीय परम्परा अनादि-अनन्त अनवरत गतिशील है किन्तु तत्त्व-महोदधि भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरण मे जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र की अपेक्षा से यह स्पष्ट सकेत दिया गया है कि यह परम्परा अर्थात् महावीर शासन का साधुमार्ग इक्कीस हजार वर्ष तक अनवरत गतिशील रहेगा। अस्तु, यह स्थानकवासी अपर नाम से आज भी गतिशील है। प्रभु महावीर के पश्चात् अनेक महान् प्रभावक सघ धुरीण आचार्यो ने इस शासन-उद्यान का बहुत सिंचन किया है।

महान् तपोधनी आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म सा जैसे क्रातद्रष्टाओ ने क्राति-बीजो का वपन किया। महान् ज्योतिर्पुञ्ज आचार्य ज्योतिर्धर जवाहर ने उस सिंचन को सुविशेष गति प्रदान की एव शात क्राति के अग्रदूत, सयमीय मर्यादाओ के सजग प्रहरी अगाध चारित्रनिधि आचार्य श्रेष्ठ श्री गणेशीलालजी म सा ने उन बीजो मे सशक्त उर्वरक शक्ति का सचार किया।

(163)

प्रश्न प्रभु महावीर द्वारा प्रवेचित साधुचर्या से शारीरिक, आध्यात्मिक और यौगिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से साधना कैसे सधती है?

उत्तर : इस प्रश्न के उत्तर मे सबसे पहले यह जानना होगा कि भगवान महावीर द्वारा प्रवेचित साधुचर्या के मुख्य सूत्र क्या हैं?

आगम मे उल्लिखित साधुचर्या के मौलिक पाच सार्वभौम नियम हैं। यथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमें पहला अहिंसा महाव्रत के रूप मे कथित है।

अहिंसा महाव्रत वह है कि जिसमें सूक्ष्म एव आपेक्षिक सूक्ष्म जीवो से लेकर विशाल से विशाल शरीर-धारियो का तथा मानसिक, वाचिक एव बौद्धिक स्वल्प विकास से लेकर प्रौढ विकास युक्त जगत् के इन सभी प्राणियो के प्रति आत्मीयता के साथ सद्व्यवहार का भव्य प्रसग इस पहले महाव्रत के प्रसग से बनता है। अर्थात् इस विराट् विश्व मे समस्त चैतन्य आत्माओं को अपनी आत्मा

के तुल्य समझ कर "आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्" की उक्ति को पूर्ण रूपेण चरितार्थ करना होता है।

जैसाकि दशवैकालिक सूत्र मे उद्घोपित है कि यथा—"सव्व भूयप्प भूयस्स, सम भूयाइ पासवो विहिया सव्वस्स दतस्स, पाव कम्म न वधइ।

(दशवैकालिक) ४/९

अर्थात् जगत् के समस्त चराचर प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य हैं। अत उन आत्माओ को समभाव पूर्वक देखता हुआ कर्मों के आगमन को रोक कर विकारो का परिमार्जन करता हुआ जो साधु चलता है, उसके पाप कर्म का वन्धन नही होता।

जव व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति को व्यवहार मे परिणत करता है, तव उस प्रवृत्ति के पीछे दो दृष्टिकोण मुख्यतया रहते हैं। एक विषम और दूसरा सम।

विपम दृष्टिकोण मे विकारो की प्रचुरता एव स्वय के लिए अन्य की उपेक्षा तथा उपमर्दनादि मे निस्सकोच रहता है। उसकी आन्तरिक भावना यह रहती है कि मैं दूसरो की दृष्टि से वचता हुआ अविक से अधिक कुव्यसनो का पोषण करू। उन पोपक सावनो मे यदि कोई वाधक वने तो उनको विनष्ट कर दू। ऐसा वह कर पाता है या नही, यह वात भिन्न है पर उसकी आन्तरिक मलिन वासनाए इस प्रकार का व्यवहार करने को वाध्य करती है। उस व्यवहार मे वह ऊपर से अन्य की दृष्टि मे भला भी रहना चाहता है पर भीतर मे भलाई की भावना के स्थान पर दूपित भावना कार्यकारी होती है।

अतएव उसकी जीवन वृत्तिया विषमता से अनुप्राणित वन जाती हैं। परिणामस्वरूप जो वस्तु जैसी नही है उस वस्तु को उस रूप मे देखने लगता है। परहित या पर सुख के लिए कुछ भी परित्याग करने की वृत्ति नही जगती। विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ करने मे सकोच नही पाता। क्लेश ककाश भी उसके जीवन के चारो तरफ घेरा डाल देते हैं। मन मे अहर्निश बुरे विचारो का ताना-वाना वुनते रहता है। वाणी पर भी वह नियत्रण नही कर पाता। शारीरिक प्रवृत्ति भी प्राय मन का अनुसरण करती रहती है जिसमे आश्रवजनित कर्मो के साथ-साथ मानसिक रोग का भी प्रादुर्भाव न्यूनाधिक रूप मे निर्मित होता रहता है।

इसी प्रकार का पोपण निरन्तर मिलता रहे तो वही रोग मानसिक भूमिका से फैलता हुआ शारीरिक आदि रोगो का भी स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसे रोगो का निवारण एलोपैथिक आदि उपचारो से वन नही पाता। वल्कि आर्थिक दृष्टि मे व्यक्ति क्षत विक्षत हो जाता है। क्योकि एलोपैथिक आदि

चिकित्सक शारीरिक आदि चिह्नो के आधार पर उपचार की पद्धति मे दत्त-चित्त रहते हैं और उसका निदान सही नही होने पर विषैली (परिजन युक्त) औषधियो का प्रयोग उन पर करते रहते हैं जिससे शरीर आदि की पोषक कोशिकाए भी विनष्ट होती रहती हैं। और विभिन्न प्रकार के विषो से शरीर मर जाता है। जो एक दृष्टि से आयु के लिए उपक्रम बन जाने से आयुष्य का अपवर्तन भी हो सकता है जिससे जितनी आयुष्य लेकर आया उतनी न भोग कर कुछेक वर्षों मे ही इस जीवन लीला को समाप्त कर परलोकगामी हो जाता है। इस प्रकार विषमता जनित प्रवृत्तियो में प्राय ससार के अधिकाश प्राणी प्रभावित हैं। जिससे आध्यात्मिक अवनति के साथ-साथ शारीरिक, मानसिक आदि क्षतिया बनती हैं। और अर्थ की विपन्नता यथा सभव बनती ही जाती है।

जीवन मे एकरूपता नही रहने से छल, कपट, निर्दयता आदि प्रवृत्तियो के परिणामस्वरूप इस लोक के साथ परलोक भी अधकारमय बन जाता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन मे साधुचर्या तो दूर रही, मानवीयचर्या भी भव्य तरीके से नही बन पाती है।

साधुचर्या सम दृष्टि पूर्वक प्रवृत्त होती है। समता भाव मे समरस पूर्ण प्रत्येक क्रिया का प्रवाह प्रवाहित होता है। उसमे प्रत्येक आत्मा को स्वय के तुल्य समझने के साथ-साथ तदनुकूल व्यवहार का प्रसग आता है। जो बात तटस्थ भाव से अपने लिए हितकर मानता है वहीं बात अन्य के लिए भी सोचता है। स्वय निर्भय रहता हुआ अन्य सभी के लिए निर्भयता देता है। स्वय मे निर्भय एव निष्कप की अवस्था तभी प्राप्त कर पाता है जबकि अन्य को कपित एव सम्भ्रान्त नही करता है। अन्य की हिंसा को स्वय की हिंसा मानता है। अन्य की सुरक्षा को अपनी सुरक्षा समझता है। अन्य के सुख की भावना को अपने सुख की सर्जना समझता है। इसीलिए उसके चरण स्व-पर कल्याणार्थ उठते है। उसके हाथ स्व-पर की तुष्टि के लिए होते हैं। उसकी वाणी सर्वत्र मगल-कारी भावना मे प्रवाहित होती है। उसके अध्यवसाय सदा पवित्र ऊर्मियो से आप्लावित रहते हैं।

परिणाम स्वरूप चलते समय उसकी दृष्टि युग प्रमाण ($3\frac{1}{2}$ हाथ भू-भाग) को अवलोकन करती हुई एकाग्र रहती है। वाणी मधुर एव सभी के हृदय को प्रमुदित करने वाली होती है। उसकी आजीविका हेतु होने वाली प्रवृत्ति छोटे-मोटे प्राणियो को अभय देती हुई दृष्टिगत होती है। उसके हाथ से किसी भी वस्तु का ग्रहण व विसर्जन अन्तरावलोकन के साथ होता है। सार्थक पदार्थों को व्यर्थ मे विनष्ट नहीं होने देता है। निस्सार-किसी के भी काम नही आने योग्य पदार्थ का विसर्जन भी अहिंसा देवी की साक्षी मे करता है। मानसिक भूमिका

सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावादि परिधि को लाघ कर असीम विराट् भावनाओ से समरस होती हुई विश्व कल्याणकारी होती है। उसकी अहिंसक भूमिका पर छोटे व वडे किसी भी प्राणी को विनष्ट करने की भावना तो दूर रही, विनष्ट सम्बन्धी छोटी-सी चिनगारी को भी अपने लिए विष-वृक्ष समझता है। उसकी चेतना इतनी सजग रहती है कि इधर-उधर के वायुमण्डल से प्रविष्ट होने वाले कुविचारो की गध को किंचिदपि अवकाश नही मिलता वल्कि सन्निष्ट एव सद् विचारो से हृदयहृद् लबालव भरा रहता है। वही अमृत तुल्य विचार वाणी के वल से प्राणीमात्र को सतृप्त करते है। जिसकी जिह्वा भौतिक रस की अपेक्षा आध्यात्मिक रस को आस्वादित करने के लिए तत्पर रहती है। जिसकी त्वचा अनुकूल एव प्रतिकूल सस्पर्शों मे भी समता की अनुभूति करने वाली लगती है। जिसकी कर्णेन्द्रिय निन्दा-प्रशसा आदि शब्दो को निर्लिप्त भाव से श्रवण करती है। जिसके चरण किसी भी प्रकार की आवाज को स्वीकार नही करते। क्योकि आवरण की ओट मे यत्किंचित् किसी को कष्ट होने पर स्वय को कष्ट मान कर चलते हैं।

किवहुना शरीर के प्रत्येक अणु-अणु से प्रशान्त रस का निर्झर वहता रहता है। जिसका मस्तिष्क सम्परिपूर्ण केन्द्रीय से युक्त होता हुआ अपनी समुचित शारीरिक सचर्या को नियत्रित करता रहता है। एक क्षण के लिए भी किसी भी अवयव को विपमता की ओर नही मुडने देता। इस प्रकार की अवधानता योग साधना की पृष्ठभूमि के सहारे सतचित्त आनन्दघन निष्कलक निरावरण समग्र शक्तियो से सम्पन्न चैतन्यमय अलौकिक प्रकाश से सम्पन्न स्वय के निजी स्वरूप को पर पदार्थों के सम्पर्क से समग्र सूक्ष्म एव स्थूल आवरणो को समाप्त कर स्वय की चरम सीमा को छूने रूप परम समाधि सप्राप्त होता है। यदि कदाचित उस जीवन से उतनी साधना न भी कर सके फिर भी जिस जीवन को निरोग निष्पाप पवित्रता के क्षणो मे व्यतीत करता है। सद् विचारो से भरा हुआ समरस को प्रत्येक अणु मे प्रवाहित करने वाला मन स्वय निर्विकार एव सभी प्रकार के दूषणो से रहित रहता है। वह अपने अनुरूप तथा अपने पद-चिह्नो पर शरीर को भी चलाने मे समर्थ वन जाता है।

मनोविज्ञान की तुला से भी इस विपय को सतुलित किया जाय तो ज्ञात होगा कि आज तक जितनी भी मनोविज्ञान की भूमिका विकसित हुई है। उस भूमिका को भी उपरोक्त अनुभूति परक विषय सशोधन परामर्श विमर्श दे सकता है। क्योकि आधुनिक मनोविज्ञान का आधार वृतक वृत्तान्त होता है अर्थात् भूतकालीन विपय है। और आध्यात्मिक पृष्ठभूमिका त्रिकालिक है। जो वर्तमान तथा भविप्य के जीवन सम्वन्धी तथ्यो को उजागर करने वाली वनती है। अर्थात् आदर्श की पवित्र वेला मे यथार्थ की पवित्र भूमिका का दिव्य प्रतीक वनती है।

उपरोक्त पद्धति से प्रभु महावीर द्वारा निर्दिष्ट साधुचर्या सवहन करने वाला साधक शारीरिक, आध्यात्मिक, योगिक एव वैज्ञानिक समग्र भूमिकाओ को भव्य तरीके से सवहन करता हुआ जीवन के चरम उत्कर्ष तक पहुचने का प्रावधान प्राप्त कर लेता है। आवश्यकता है प्रतिपल प्रतिक्षण होने वाले कार्य मे उपयोग का प्रकाश (लाइट) अनवरत चलता रहे।

सर्व प्रथम वन्दन सूत्र की प्रक्रिया जब उपयोग सहित विधिवत् बनती है तब शारीरिक अवयवो का समीचीन तरीके से व्यवहार होता है। जैसे जब वन्दन करने के लिए सीधे खडे होकर कर बद्ध हो करो को भृकुटि के सीध मे रखते हुए आवर्तन करता है तब उसके सीना एव हस्त से बधी छोटी बडी नसो का मुख्यतया योगिक प्रक्रियो का अनुसधान बनता है। आवर्तन के पश्चात् दोनो घुटने एव दोनो हाथ तथा मस्तिष्क जमीन पर लग जाने पर सम्पूर्ण शरीर की नाडियो एव मासपेशियो की प्रक्रियाए सधती है तथा शरीर मे एक नव स्फूर्ति जागृत होती है।

इस प्रकार कई बार वन्दन होने से आध्यात्मिक साधना के साथ रक्त सचार की प्रक्रियाए बिना रुकावट सर्वत्र होने लगती हैं जिसमे रक्त सशोधन रूप शारीरिक आदि शुद्धि का अनायास प्रसग बनता है। जो कि योगिक प्रक्रिया के अन्तर्गत की एक प्रक्रिया है। जिससे योग साधना मे भी सबल मिलता है।

जहा तक ध्यान का प्रश्न है उसमे भी मन की वृत्ति को व्यवस्थित करने का प्रसग है। उसे व्यवस्थित बनाने मे इस योगिक प्रक्रिया के साथ उपयोग का सलग्न रहना नितान्त आवश्यक बन जाता है। जिससे मन की एकाग्रता के साथ उपयोग का नियमित सिलसिला बन जाता है। फिर उपयोग से आतरिक वृत्तियो का समिश्रण करना सहज हो जाता है। जो कि समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया कहलाती है। इसी प्रकार साधु जीवन की दैनिक प्रक्रियाओ के साथ उपरोक्त रीति से सम्बन्ध जोडने पर समीक्षण ध्यान सहज रूप से ही प्रबल बनने लगता है। इसे सहजिक योग की पद्धति कह सकते है। जिसमे किसी प्रकार की कोई अनिष्ट अवस्था नही बन सकती। ऐसे तो हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग का उल्लेख न्यूनाधिक रूप मे प्रचलित है। पर हठयोग आदि की प्रक्रियाए शारीरिक अवयवो के साथ कई प्रकार के प्राणायाम आदि से सम्बन्धित है। उन प्रक्रियाओ मे भी कुछ प्रक्रियाए व्यवस्थित न बनने पर कई तरह की आपत्तिया आ सकती है। योग्य निर्देशक के साथ उन आपत्तियो से कदाचित बचा भी जा सकता है। फिर भी उनमे प्रधानतया शारीरिक अवयवो की एव सूक्ष्म प्राण सचालन आदि की प्रक्रियाए ही सध सकती है किन्तु जीवन का समग्र सर्वांगीण विकास का प्रावधान प्राय नहीं

वन पाता । क्योकि शक्ति का सक्षय या विनिमय इन प्रक्रियाओ को साधने मे ही प्राय समाप्त हो जाता है । नवीन ऊर्जा का स्रोत जिस मात्रा मे जितना उद्घटित होना चाहिए, उतना नही हो पाता ।

एतदर्थ साधना मे समग्र समय लगाने पर भी सर्व विकास का प्रसग प्राय नही वन पाता । क्योकि समीक्षा ध्यान की प्रक्रिया का कोई प्रावधान विधिवत लक्ष्य के साथ उन हठयोगादि मे दृष्टिगत नही रह पाता जिससे चरम सिद्धि नही हो पाती । किन्तु *समीक्षण ध्यान की प्रक्रिया मे लक्ष्य सम्यकतया* विधिवत दृष्टि-विन्दु होने से जीवन का समग्र रूप व्यवस्थित वनता है । साथ ही आवश्यकतानुसार राजयोग आदि कई प्रक्रियाए सहजिक योग से समाविष्ट हो जाती है ।

इसलिए प्रारम्भ से ही सहजिक योग की प्रक्रिया से प्रारम्भ कर समीक्षण ध्यान के माध्यम से अन्तर यात्रा का कार्य प्रारम्भ किया जाय तो साधक स्वय की समग्र वृत्तियो का सशोधन परिमार्जन करता हुआ साधना मे गति कर सकता है । साथ ही सहजिक रूप मे भौतिक एव आध्यात्मिक ऊर्जाओ का अखूट भण्डार भी प्राप्त कर सकता है। जिससे कि अनिर्वचनीय शक्ति का नियत्रण करता हुआ विश्वनियता की अवस्था को भी लाघ कर चिन्मय परम समतारस की पराकाष्ठा की अनुपमेय आनन्दानुभूति को सदा सर्वदा के लिए उपलब्ध कर सकता है ।

इस उपलब्धि के अन्तर्गत विश्व मे प्रचलित जितनी भी योग जनित उपलब्धिया है, उन सव का समावेश भव्य तरीके मे हो जाता है । अत साधक को वर्तमान मे उपलब्ध स्वकीय शक्ति को वर्धमान (वृद्धिगत) करनी हो तो समीक्षण ध्यान को मध्य नजर रख कर प्रभु महावीर द्वारा प्रवेचित सहजिक योग का अनुसरण करना योग्य है ।

(164)

प्रश्न : साधु के स्थान पर रात्रि को वहनें प्रवेश कर सकती हैं क्या ? अथवा स्त्री युक्त मकान मे साधु रह सकते हैं क्या ?

उत्तर : श्रमणवर्ग पाच महाव्रतो को अगीकार करके उनकी परिपूर्ण रूप से आराधना करता है । उन महाव्रतो की सुरक्षा के लिए शास्त्रो मे विविध प्रकार के नियम व उपनियमो का सविधान किया गया है । पांच महाव्रतो मे चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है । ब्रह्मचर्य साधना का मूल हृदय है । इसकी सुरक्षा साधना की सुरक्षा है । अत. इस महाव्रत की सुरक्षा के लिए विविध नियम व

उपनियमो का विधान है । उन विधानो मे साधु के निवास स्थान सम्वन्धी विधान इस प्रकार है :—

> ज विवित मणाइण्ण रहिय इत्थि जणेण य।
> वम्भ चेरस्स रक्खट्ठा, आलय तु नि-सेवए ॥
> —उत्तरा १६/१

मूलार्थ · जो स्थान पुरुष-स्त्री तथा पशु-स्त्री तथा नपु सक के अभाव वाला हो एव इनके आवागमन से रहित हो, और स्त्रीजन से रहित हो, उस स्थान को साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सेवन करे ।

टीका · इस गाथा मे साधु को ऐसे विविक्त स्थान मे निवास करने का आदेश है जहा पर पुरुप-स्त्री, पशु-स्त्री और नपु सक का निवास न हो तथा आकीर्णता से रहित अर्थात् जहा स्त्री आदि का पुन -पुन एव अकाल तथा रात्रि मे आवागमन न हो, ऐसे एकान्त उपाश्रय आदि मे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु निवास करे । यहा पर 'आलय' शव्द सामान्य वसती का वोधक है । अत कोई भी स्थान हो, परन्तु उक्त दोपो मे अर्थात् पुरुष-स्त्री, पशु-स्त्री और नपु सक से रहित एकान्त होना चाहिए, तव ही साधु समाहित चित्त से वहा रह सकता है । अन्यथा सूत्र मे वर्णित शका और सयम भेद आदि दोपो का होना सभावित है । यह टीका का तात्पर्य है ।

इस गाथा मे "आलय" शव्द स्थान एव वसती का वाचक है । "निसेवए" रहे । स्थान कैसा होना चाहिए । इसके लिए शास्त्रकारो ने निवास स्थान के तीन विशेपण दिये हैं—वे इस प्रकार हैं —

पहला विशेपण है—"विविक्त" अर्थात् जो स्थान मनुष्य जाति एव पशु जाति की स्त्री एव नपु सक जो तीनो काम क्रीडा के योग्य वन सकते हैं, ऐसे निवास स्थान मे साधु न रहे अथवा जहा पर साधु का निवास हो, वहा पर ऐसे व्यक्ति न रहे ।

शिष्य प्रश्न करता है कि ऐसे व्यक्ति साधु के निवास स्थान मे निवास तो न करते हो, लेकिन मनुष्य-स्त्री किसी वस्तु को मकान मे रखने के लिए या मकान मे मे निकालने के लिए अकाल (दिवस का अवसान एव रात्रि का अवसान काल) मे आवागमन करें तो क्या आपत्ति है ?

इसके उत्तर मे दूसरा विशेपण दिया है—"अनाकीर्णम्" इसका टीकाकार ने अर्थ करते हुए लिखा है कि आकीर्णता से रहित अर्थात् जिसमे स्त्री आदि का पुन -पुन अकाल मे आवागमन न हो । इस प्रकार के एकान्त उपाश्रय आदि मे ही ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु निवास करे ।

पुन. प्रश्न किया गया है कि वस्तु आदि को ले जाने की दृष्टि से तो स्त्री आवागमन न करे पर जिस प्रकार दिन मे व्याख्यान आदि श्रवण किया जाता है, उसी प्रकार रात्रि के समय मे भी व्याख्यान श्रवण एव धर्म-ध्यान के लिये साधु के निवास स्थान की सीमा मे स्त्री जाति भी अगर व्याख्यान श्रवण व धर्म-ध्यान करे तो क्या हरकत है ?

इसके उत्तर मे भी इसी मूल गाथा मे "रहिय इत्थि जणेण" (रहित स्त्री जनेन) स्त्रीजन से रहित—यह तीसरा विशेषण दिया है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के १६वे अध्ययन की प्रथम गाथा मे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जहा एक विशेषण से काम चल सकता था, वहा तीन विशेषण दिये गये है। इन तीनो विशेषणो की सार्थकता तभी हो सकती है जब सूर्यास्त के बाद एव सूर्योदय के पहले स्त्री जाति का साधु के निवास-स्थान मे प्रवेश न हो।

ऐसे निषिद्ध समय मे स्त्री जाति का ब्रह्मचारी साधु के मकान की सीमा मे प्रवेश होने पर यदि साधु उसका निषेध नही करता है और अनुमोदन करता है तो निशीथ सूत्र मे साधु को चातुर्मासिक दण्ड बताया है। वह निशीथ सूत्र का पाठ निम्न प्रकार है —

सूत्रम् —जे भिक्खु राओ वा वियाले वा इत्थिमज्झगए।
इत्थि ससते इत्थि परिवुडे अपरिमाण याए॥

कह कहइ कहेत वा साइज्जइ॥

राओ वा —रात्रौवा, वियाले वा-विकाले वा, तत्र विकाल दिवसावसाने रात्रि प्रागभावे। रात्र्यावसाने-दिवस प्राग् भावे वर्तते।

भाष्यम् —राओयवियालेवा, इत्थि मज्झ गओ मुणी।
पमाण मइरेगेण कहाओ दोस मा वहे॥१॥

ब्रह्मचारी सत वर्ग के निवास स्थान पर अकाल दिवस के अवसान एव रात्रि के अवसान काल मे तथा रात्रि के समय स्त्री जाति के लिए आना वर्जनीय है। अत ऐसे अकाल और रात्रि के समय मे स्त्री समुदाय के मध्य तथा स्त्री से ससक्त एव परिवृत्त न रहे। ऐसे प्रसग पर अपरिमित वार्तालाप भी न करे।

परिमित वार्तालाप का तात्पर्य कुछ ऐसे प्रश्नोत्तरो से है जैसे—जिस मकान मे मुनिराज विराज रहे है, उस मकान के बाहर सूर्यास्त के बाद एव

सूर्यास्त के पहले यदि कोई बहिन मकान की सीमा के बाहर से पूछती है कि १ मकान मे कौन है ? उस समय अगर कोई भाई न हो तो साधु को प्रत्युत्तर देना आवश्यक है। अत साधु उत्तर देता है कि हम साधु हैं । मकान मे रह रहे हैं। स्त्री यदि पुन प्रश्न करे कि २ कहा से पधारे हैं ? तो साधु जवाब दे सकता है कि अमुक गाँव से आये हैं । स्त्री पुन प्रश्न करे कि ३ आप किसकी आज्ञा मे विचरण करते हुये यहा पर विराज रहे हैं ? एव ४ कब तक विराजेगे ? तो साधु पुन जवाब दे सकता है कि हम अमुक आचार्यश्री के अज्ञानुवर्ती हैं एव सम्भवत हम अमुक समय तक यहा ठहर सकते हैं। फिर प्रश्न करे कि ५ क्या व्याख्यान देंगे ? तो उत्तर दिया जा सकता है कि सूर्योदय के वाद व्याख्यान के समय मे यथावसर व्याख्यान देने की भावना है, इत्यादि ।

इस प्रकार यदि प्रश्नोत्तर का कोई प्रसग उपस्थित हो तो साधु द्वारा अधिक से अधिक पाच प्रश्नो का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है। यह परिमित कथन है। छठा प्रश्न पूछने पर अपरिमित कथन की श्रेणी मे माना गया है। छट्ठे प्रश्न का उत्तर देना, दोष सेवन करना है। अर्थात् आज्ञा भगादि रूप दूषण का सेवन करना माना गया है। यथा—

"एक-द्वि-त्रि-चतु -पच प्रश्नोत्तर रूपमति कुम्पषष्ठादि प्रश्नोत्तर रूपा कथा कथयति "कहाओ" कथात् एतादृश कथा करणत दोष आज्ञा-भगादि रूप दूषण आपदयेत् प्राप्नुयात्" ।

जब छट्ठे प्रश्न का उत्तर देना भी आज्ञा का उल्लघन आदि दोष का सेवन माना गया है तो प्रहर रात्रि व्यतीत होने तक व्याख्यान आदि कथाएँ करना नितान्त अपरिमित एव दोषपूर्ण है। अतः वर्जनीय है।

अपरिमित कथा करने से उन स्त्रियो के माता-पिता पुत्रादि, स्वजन सम्बन्धियो के मन मे शका उत्पन्न हो सकती है और वे समझ सकते हैं कि ये साधु निर्लज्ज है। अकाल मे तथा रात्रि मे स्त्रियो से वार्तालाप कर रहे हैं। इसलिए लम्पट भी दिखते हैं। यदि ऐसा नही हो तो रात्रि के समय स्त्रियो से विना विचारे चिरकाल तक कैसे वातचीत करते ? इस कारण वे साधु के प्रति अविश्वासी भी बन सकते हैं एव कुपित होकर साधु को ताडन भी कर सकते हैं। यथा—आवेश मे आकर राजपुरुषो द्वारा साधुओ को पकडवाने की भी चेष्टा कर सकते हैं और यह प्रसग सयम विराधना एव धर्म की अवहेलना का कारण भी बन सकता है। यथा—

"तेन सयम विराधना, आत्म विराधना ।
धर्मस्य अवहेलना च भवितुमर्हति ।।"

इस प्रकार वहुत दोषो के प्रसग से वचने के लिए साधु को रात्रि और विकाल मे स्वय अपरिमित कथा नही करनी चाहिये। यदि कोई साधु ऐसा करता है तो उसे इसका अनुमोदन भी नही करना चाहिये । यह भाष्य की गाथा का तात्पर्य है । ऐसे दोषो का सेवन करने वाले साधु को प्रायश्चित स्थान सेवन करने वाला माना गया है और उसकी शुद्धि के लिए "चाउम्मासिय परिहार ट्ठाण" चातुर्मासिक प्रायश्चित वतलाया गया है।

यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त शास्त्र के आशय को न मानकर कुतर्क करे कि स्त्रिया जैसे दिन मे आती हैं वैसे रात्रि मे भी आती हैं तो क्या हरकत ?

इसका वहुत सहज किन्तु तर्कसगत उत्तर है कि जिस प्रकार साधु के स्थान पर सूर्यास्त के वाद एव सूर्योदय के पहले स्त्रियो का धर्म-श्रवण आदि के लाभ के लिए आना उपयुक्त एव शास्त्र सम्मत माना जाय तो ठीक उसी तरह तर्क उठाने वालो की दृष्टि से साध्वियो के लिए भी सूर्योदय के पहले एव सूर्यास्त के वाद धर्म-श्रवण आदि लाभार्थ आना स्वीकार किया जाना चाहिये । धर्म लाभ तो महिलाओ की तरह साध्वियो के लिए भी आवश्यक एव लाभकारी है और जव ससार अवस्था की स्त्री जाति, जिसके ब्रह्मचर्य की अधिकतर मर्यादा नही है, उसके अकाल एव रात्रि के आने पर कोई खतरा पैदा नही हो सकता, तो साध्विया तो पूर्ण ब्रह्मचारिणी एव पच महाव्रतधारिणी हैं उनके अकाल एव रात्रि आवागमन से खतरे की सम्भावना क्यो कर होगी ? आदि । इस विपय मे शास्त्रीय दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र के १६वे अध्ययन की गाथा का प्रमाण ऊपर अर्थ सहित दिया जा चुका है । यदि कोई इस निपिद्ध प्रवृत्ति का उल्लघन करता है, तो निशीथ सूत्र मे उल्लघन का चौमासी प्रायश्चित वतलाया है। उत्तराव्ययन के अध्याय ३२ की गाथा १३ मे कहा है कि—

जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाण वसही पसत्था ।
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न वभयारिस्स खमो निवासो ।।

मूलार्थ :—जैसे विल्लियो के रहने के स्थान मे चूहो का रहना प्रशस्त योग्य नही है । उसी प्रकार स्त्रियो के समीप ब्रह्मचारी का निवास करना उचित नही है ।

टीका :—विल्ला-मार्जार के समीप मूपको (चूहो) को रहने से उनको हानि पहुचने की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार स्त्रियो की वस्ती (निवास स्थान) मे रहने से ब्रह्मचारी को हानि पहुचने की सम्भावना रहती है। इसीलिए उनका वहा रहना उचित नही । स्त्रियो के साथ परस्पर के सम्भापण

और मिलाप मे उनके ब्रह्मचर्य मे दोष लगने की हर समय शका वनी रहती है तथा अल्पसत्व वाले जीव के पतित होने की अधिक सम्भावना रहती है। अत ब्रह्मचर्य की रक्षा मे सावधान रहने वाला साधु इनके समर्ग मे आने का कभी भी साहस न करे। यहा पर "आवसह् असवसत्थ" शब्द आलय व वसती का वाचक है।

जिस प्रकार विल्ली के समीप चूहो का रहना हितकर नही, उसी प्रकार स्त्री आदि के समीप वसना ब्रह्मचारी के लिये भी अनेक प्रकार के दोषो को उत्पन्न करने वाला है। यह भाव उपर्युक्त गाथा मे आये हुए प्रशस्त शब्द से व्यक्त होता है।

विविक्त स्थान मे रहते हुए साधु की दृष्टि यदि स्त्री पर पड जाय तो उस समय भी उसको देखने की मन मे इच्छा न करनी चाहिये।

हत्थ पाय पडिच्छिन्न, कण्ण नास विगप्पिय।
अविवास सय नारिं, वम्भयारी विवज्जए॥

—दशवै० अध्य० ८, गाथा ५६

पदान्वय '—हत्थ पाय पिडिच्छिन्न–जिस स्त्री के हाथ-पैर कट गये हो और कण्ण नास विगप्पिय–कान-नाक कटी हुई हो अथवा विकृत हो गई हो, अविवाससय–जो सौ वर्ष की आयु वाली पूर्ण वृद्धा एव जर्जरित शरीर वाली हो गई हो, नारिं–ऐसी स्त्रियो के ससर्ग को भी वभचारी–ब्रह्मचारी साधु, विवज्जए त्याग दे अर्थात् स्त्रियो का समर्ग कदापि न करें।

जव ऐसी वृद्ध एव कुरूपा नारी का सम्पर्क भी शास्त्रकारो ने निपिद्ध किया है तो फिर अन्य नारियो का विकाल और रात्रि के समय तो नितान्त निषेध है ही।

इसलिए प्रत्येक साधक को अपने ठहरने योग्य स्थान का सम्यग्निरीक्षण करना चाहिये।

साधु-साध्वी जिस उपाश्रय-स्थान में ठहरे उसके स्वामी या व्यवस्थापक का नाम-गोत्र जान लें और उसके यहा से आहारादि ग्रहण न करे। स्थान की अनुमति देने वाला गृहस्थ शय्यातर है और उसके यहा का आहार लेना पिण्डैपणा मे वर्जनीय वताया है।

साधु खुले स्थान मे और विना किवाड वाले स्थान मे ठहर सकता है परन्तु साध्वियां नही ठहर सकती। इस प्रकार शय्या–अर्थात् उपाश्रय-स्थान सम्बन्धी नियमो का पालन करना शय्यैपणा समिति है।

साधु शेषकाल मे एक स्थान पर अधिक से अधिक उन्तीस दिन तक रह सकता है और साध्विया अट्ठावन दिन तक। इस कल्प को पूरा कर लेने पर साधु के दो मास से पूर्व फिर उस स्थान पर आना नही कल्पता है । इसी प्रकार साध्वियो ने दो मास का कल्प पूरा कर लिया है तो उससे दुगुने समय तक अन्यत्र विचरण किये बिना उस स्थान पर पुन आना नही कल्पता । इस प्रकार शय्यैषणा के विभिन्न नियम प्रतिपादित हैं। उनका पालन करते हुए मुनि को निर्दोष स्थान की गवेषणा करनी चाहिए और गृहाधिपति की आज्ञा से यथाकल्प यथाविधि वहा ठहरना चाहिए।

(165)

प्रश्न : *विद्युत् सचित्त है या अचित्त ?*

उत्तर यत्रवादिता के इस युग मे विद्यु त की सचित्तता एवं अचित्तता का प्रश्न एक ज्वलन्त रूप ले चुका है, अत इसका विस्तृत एव स्पष्ट विवेचन अधिक उपयोगी होगा ।

जे दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।
जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे ।।

—आचाराग प्र अ

पच स्थावरकाय जीवलोक मे वनस्पतिकाय जीवलोक को "दीर्घलोक" कहा गया है। यहा दीर्घ शब्द अवगाहना से सम्वन्धित है। पाच स्थावर एकेन्द्रिय कहलाते हैं। उनमे चार की अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण है और वनस्पति की अवगाहना जघन्य अगुल के असख्यातवें भाग तथा उत्कृष्ट एक हजार योजन से अधिक मानी गई है (प्रज्ञापना अवगाहना पद) वनस्पति की विश्व मे अधिक प्राचुर्यता है। उस प्रचुरता के कारण आगमो मे उसे "दीर्घलोक" कहा हैं। उस दीर्घलोक वनस्पतिकाय के शस्त्र अग्निकायिक (तेजस्काय) जीव होते हैं जो हरित वनस्पति को भी जलाकर राख कर देते है, तो अन्य विश्ववर्ती प्राणियो का तो कहना ही क्या ? अर्थात् अग्नि शस्त्र विश्व के सभी प्राणियो का घातक है। वह अति तीक्ष्ण एव प्रचण्ड है। इसके सताप से सभी प्राणी कितने खेदित होते हैं, यह स्व-अनुभूति से जाना जा सकता है। किसी भी व्यक्ति के जरा-सी अग्नि-चिनगारी लग जाती है तो वह चीख उठता है। जिस स्थान को वह चिनगारी छूती है, उस स्थान पर फफोला हो जाता है। वहुत समय तक उसकी पीडा से वह खेदित होता है। इतनी-सी चिनगारी भी व्यक्ति को कितना विह्लल वना देती है, इसकी अनुभूति वह स्वय करता इसी अनुभूति के आधार पर सोचा जा सकता है कि, यह अग्नि शस्त्र (तेजस्काय) जगतवर्ती सभी प्राणियो के लिए अत्यन्त भयावह पीडा से पीडित करने वाला तथा मृत्यु तक को प्राप्त करने वाला है। इसलिये यह भलीभाति

सुस्पष्ट है कि इससे भयकर अर्थात् इसके समान जगत् में दूसरा कोई शस्त्र नही।

प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कहा है :—

"णत्थि जोइसम्मे सत्थे, तम्हाजोइ ण दीवए"

—अ ३५, गाथा १२

ज्योति-अग्नि (जाज्वल्यमान-तेजस्काय) के समान दूसरा कोई शस्त्र नही है। अत: अग्नि का प्रज्वलन न करें।

जैसा प्रलयकर शस्त्र अग्निकाय है। ठीक इसके विपरीत अग्निकाय (तेजस्काय) का असमारभ रूप सयम है। सयम से बढकर अन्य कोई अस्त्र नही हो सकता। अर्थात् अग्निकाय शस्त्र (तेजस्काय) जैसे विश्ववर्ती समग्र प्राणी लोक के लिये घातक एव भयावह है। वैसे ही समग्र प्राणी लोक के लिये अभयकर, प्राणरक्षक सयम रूप शस्त्र है। इस सयम रूप शस्त्र को जिसने भली-भाति जाना है-माना है-स्वीकारा है, उसने समस्त विश्व के प्राणियो की सभी वेदनाओ को जाना है, और आत्मीय भावना के साथ किसी भी प्राणी को किन्चित् मात्र भी किसी प्रकार से कष्ट परिवेदना न देना, न दिलवाना, और न देने वाले को अच्छा समझना। मन, वचन, काया से, तीन करण, तीन योग के साथ ऐसे दृढ सकल्पी पुरुष विश्व के छोटे-बडे सभी प्राणियो के खेद को जानने वाले होते है। इसलिये वे "खेदज्ञ" कहलाते हैं। जो खेदज्ञ होते हैं, प्राणियो के खेदोत्पादक बडे से बडे शस्त्र को जानते हैं। इसलिये उपर्युक्त सूत्र मे तीर्थेश, प्रभु महावीर ने कहा है —

जे दीहलोग सत्थस्स

जो दीर्घलोकशस्त्र अग्नि (तेजस्काय) एव उससे होने वाले समारभ तथा उससे होने वाले प्राणियो के खेद-परिताप को जानने वाला होता है वही अशस्त्र रूप सयम को जानने वाला होता है। वह दीर्घलोक शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) को जानने वाला होता है। इस प्रकार इस सूत्र मे हेतुहेतुमद्-भाव सन्निहित है।

जिज्ञासा :—प्रस्तुत सूत्र मे अग्नि (तेज) को दीर्घलोक शब्द से क्यो कहा गया ? मूल सूत्र मे अग्नि या तेजस्काय शब्द का ही क्यो नही प्रयोग किया गया ? अथवा क्या किसी प्रयोजन को लक्ष्य कर दीर्घलोक शस्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है ?

समाधान :—जिज्ञासा समीचीन है। प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान टीकाकार ने इस प्रकार दिया है —

अत्राच्यते .—

प्रेक्षापूर्वकारितया, न निर्राभप्रायमेतत्कृतमिति। यस्मादयमुत्पाद्यमानो ज्वाल्यमानो वा हृव्यवाह समस्त भूतग्रामघाताय प्रवर्तते, वनस्पतिदाह प्रवतस्तु वहुविघसत्व सहतिविनाशकारी विशेषत स्यात्, यतो वनस्पतौ कृमि पिपीलिक भ्रमरकपोतश्वापदादय· सम्भवति, तथा पृथिव्यपि तरुकोटर व्यवस्थिता स्यात् आपोप्यवश्यायरूपा. वायुरपीषच्चचलस्वस्थिताभाव कोमल किशलयानुसारी सम्भाव्यते, तदेवमग्निसमारम्भ प्रवृत्त एतावतो जीवन्नाशयति, अस्यार्थस्यसूचनाय दीर्घलोकशस्त्रग्रहणमकरोत्, सूत्रकार इति। तथा चोक्तु —

जायतेय न इच्छन्ति, पावग जलइतए।
तिक्खमन्नयर सत्थ, सव्वओ पि दुरासय ।।
पाइण पडिण वावि, उड्ड अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वावि, दहेउत्तरओ वि य ।।
भूयाणमेषमाघाओ, हृव्ववाहो न ससओ।
त पइव पयावट्ठा, सजओ किंचि नारभे ।।

अग्नि (तेजस्काय) को सूत्रकार ने दीर्घलोक शस्त्र कहा है। वह प्रेक्षा-पूर्वक ही कहा है, निरभिप्राय नही। क्योकि यह अग्नि (तेज) उत्पन्न होती हुई, जलती हुई समस्त प्राणियो के घात के लिये प्रवर्तित होती है।

वनस्पति काय के दाह के साथ तो यह अग्नि अन्य जीवो के लिये विशेप रूप से दाहकारी होती है। क्योकि वनस्पति के आश्रित कृमि, पिपीलिका, भ्रमर, कपोत, श्वापद आदि अनेक जीव रहते है। तथा पृथ्वी भी वृक्ष के मूल से सम्वन्धित होती है। पानी भी पृथ्वी के आश्रित अवश्य रहता है। वायु की भी चचल स्वभाव के कारण हिंसा होती है। इस प्रकार अग्नि का समारम्भ करने वाला पट्कायिक जीवो की हिसा करता है।

इस वात को सूचित करने के लिये अग्नि (तेजस्काय) शव्द का प्रयोग न कर "दीर्घलोक शस्त्र शव्द" का ग्रहण किया गया है।

कहा भी है —अग्नि (तेजस्काय) को जलाने की इच्छा न करें। क्योकि इससे वढकर तीक्ष्ण एव दुराश्रय शस्त्र कोई भी नही है। यह जव प्रज्वलित होती है तो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अवो, दिशा, अनुदिशा मे निवसित प्राणियो के लिये आघातकारी होती है। इसमे किसी प्रकार का सशय नही। इसलिये सयति पुरुप को इसका आरम्भ नही करना चाहिये।

आगे टीकाकार ने लिखा है: —

· ·· अतो दीर्घलोक —पृथिव्यादिस्तस्य शस्त्र अग्निकायस्तस्य

"क्षेत्रज्ञो" निपुण अग्निकाय वर्णादितो जानातित्यर्थ, "खेदज्ञो-वा" खेद तद् व्यापार. सर्व सत्वाना दहनात्मक. पाकाद्यनेक शक्तिकलापोपचित प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि व्यपदेश यतीनाममनारम्भणीया, तमेवविध खेदम्-अग्नि व्यापार जानातीति खेदज्ञ, अतो य एव दीर्घलोक शस्त्रस्य खेदज्ञ स एव "अशस्त्रस्य"—सत्तदश-भेदस्य सयमस्य खेदज्ञ, सयमो हि न कञ्चिज्जीव व्यापादयति अतो शस्त्रम् एवमनेन सयमेन सर्व सत्वाभय प्रदायिना अनुष्ठीय मानेनाग्नि-जीव विषय समारम्भश्शक्य परिहर्तुं पृथिव्यादिकाय समारम्भश्चेत्येवमसौ सयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वाद्विदित परमार्थोग्नि समारम्भाद्वयावृत्य सयमानुष्ठाने प्रवर्तते ।

इदानी गत-प्रत्यागत लक्षणेनाविनाभावित्व प्रदर्शनार्थ विपर्ययेण सूत्रावयव परामर्श करोति ।

जे असत्थस्सेत्यादि, यश्चाशस्त्रे-सयमे निपुण स खलु दीघलोक शस्त्रस्य अग्ने क्षेत्रज्ञ खेदज्ञो वा, सयमपूर्वक ह्याग्नि विषय खेदज्ञात्वम्, अग्नि विषय खेदज्ञतापूर्वक च सयमानुष्ठानम्, अन्यथा तदसम्भव एवेत्येतद्गत प्रत्यागत फलमाविर्भावित भवति ।

इसलिये जो दीर्घलोक-पृथ्वी आदि शस्त्र अग्नि (तेजस्काय) को जानता है "क्षेत्रज्ञ" है । वह अग्नि के वर्णादि को जानता है । अथवा वह "खेदज्ञ" होता है । अग्नि के कार्यदहन, पाचन आदि अनेक प्रकार के हैं । प्रवर मणि की भाति वह जाज्वल्यमान होती है । इसलिये सयती को अग्नि (तेज,) का समारम्भ नही करना चाहिये । इस प्रकार जो अग्नि के व्यापार को जानता है वह अग्नि (तेजस्काय) का "खेदज्ञ" होता है । वह दीर्घलोक शस्त्र का खेदज्ञ "अशस्त्र" अर्थात् सतरह प्रकार के सयम का खेदज्ञ होता है । सयम किसी जीव का व्यापादन नही करता, अत अशस्त्र है । इस प्रकार सयम के द्वारा सभी प्राणियो को अभय प्राप्त होता है । उसका अनुष्ठान करने वाले सयमी की निपुण मति होती है । उस मति मे पृथ्वी आदि के समारम्भ स्वरूप अग्नि के व्यापार का परिहार करता है । इसलिये निपुण मति वाला होने से जिसने परमार्थ को जान लिया वह अग्नि (तेजस्काय) के समारम्भ से व्यावृत होकर संयमानुष्ठान मे प्रवृत्ति करता है ।

जो अशस्त्र स्वरूप सयम मे निपुण है वह निश्चय ही दीर्घलोक शस्त्र-अग्निकाय शस्त्र (तेजस्काय) का क्षेत्रज्ञ है ।

यहाँ अहिंसा और सयम परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध वाले है । असयमी कदापि अहिंसक नहीं हो सकता और हिंसक कभी सयमी नही हो सकता ।

अग्दि शब्द-तेजस्काय के अन्तर्गत अनेक भेदो मे से एक भेद है। तेजस्काय के समस्त भेद शस्त्र रूप मे हैं। इसका द्योतन दीर्घलोक शस्त्र के शब्द से सूत्रकार ने किया है।

शास्त्रकारो ने तेजस्काय की भयकरता के सम्वन्ध मे विवेचन प्रस्तुत किया है। तेजस्काय और दीर्घलोक शस्त्र के अन्तर्गत समग्र भेद-विभेद सन्निहत हो जाते हैं। जिसमे "विद्युत" को भी तेजस्काय स्वीकृत किया जाता है।

विद्युत की सचित्तता आगम के परिप्रेक्ष्य मे —

१ श्री पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद मे–तेउकाय के वर्णन मे वादर तेऊकाय अनेक तरह की वताई गई है। जिसमे बिजली "विद्युत" तथा (सघरिस समुट्ठिए) सघर्ष से समुत्पन्न हुई अग्नि को भी वादर तेऊकाय मे ग्रहण किया है।

"जे यावण्णे तहप्पगारा" के पाठ से और भी वैसी ही अनेक तरह की अग्नियाँ ग्रहण की गई हैं। बिजली सघर्ष से उत्पन्न होती है।

२ उत्तराध्ययन सूत्र के ३६वे अध्ययन मे "विज्जु" शब्द से विद्युत को अग्नि मे लिया है। (वादर तेऊकाय के रूप मे लिया है।)

३. श्री अभिधान राजेन्द्र कोष मे पृ २३४७ पर–तेऊ काय शब्द की व्याख्या मे पिण्ड निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरि, कल्प-सुवोधिका, बृहत्कल्प वृत्ति से उद्धरण है। जिससे अग्निकाय तीन तरह की—१ सचित्त, २ अचित्त, ३ मिश्र वताई है। सचित्त दो तरह की—१ निश्चय और २ व्यवहार।

१ **निश्चय सचित्त अग्नि**–ईंटें पकाने की भट्टी, कुम्हार की भट्टी आदि भट्टियो के बीच की अग्नि एव विद्युत् आदि निश्चय अग्निकाय होती है।

२ **व्यवहार सचित्त अग्नि**–अगार (ज्वाला रहित अग्नि) आदि।

३. **मिश्र तेजस्काय**–मुर्मुर (चिनगारियाँ) आदि।

४ **अचित्त तेजस्काय**–अग्नि द्वारा पके हुए भोजन, तरकारियाँ, पेय-पदार्थ एव अग्नि द्वारा तपाकर तैयार की हुई सूई, कतरनी आदि गृह-सामग्री, तथा राख, कोयला आदि ये अचित्त तेजस्काय है। इसमे बिजली को अचित्त नही, सचित्त माना है।

५ सूत्रकृताग सूत्र के द्वितीय श्रुत-स्कन्ध के तृतीय अध्ययन मे :—त्रस और स्थावर प्राणियो के सचित्त तथा अचित्त शरीरो मे पृथ्वी, अप्, तेऊकाय आदि रूपो मे प्राणी पूर्वकृत कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं, ऐसा उल्लेख है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेटरी, दियासलाई, तावे के तारो मे सचित्त तेऊकाय उत्पन्न होती है।

६ भगवती सूत्र के पाचवें शतक के दूसरे उद्देशक मे सिर्फ सचित्त अग्नि के मृत शरीर को अचित्त अग्नि कहा है। (बनावटी) कृत्रिम विद्युत आदि की अग्नि को नही।

७ भगवती सूत्र के सातवें शतक के २०वें उद्देशक मे—अचित्त प्रकाशक तापक पुद्गल मे सिर्फ क्रोधायमान साधु की तेजो लेश्या को गृहीत किया है, परन्तु विजली को नही।

तेजस्काय की सजीवता :—अग्नि ही जिसका शरीर हो, उसे तेजस्-काय कहते हैं। रात्रि मे जुगनू का शरीर चमकता है, प्रकाश देता है। वह प्रकाश जीव की शक्ति का प्रत्यक्ष फल है। इसी प्रकार अग्नि मे भी भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकाश शक्तियाँ पायी जाती हैं। उसमे भी विभिन्न प्रकार का प्रकाश निकलता है। वह प्रकाश जीव के सयोग के विना नही निकल सकता। इस अनुमान से अग्नि मे जीवत्व प्रमाणित होता है।

ज्वर आने पर जीवित शरीर अगारे की तरह उष्ण हो जाता है। यह उष्णता जीव के सयोग के विना नही हो सकती, क्योकि मृत शरीर मे यह उष्णता उपलब्ध नही होती।

मनुष्य का शरीर आहार आदि की सप्राप्ति से वृद्धि को पाता है और उसकी अप्राप्ति से कृश होने लगता है। इसी तरह अग्नि (तेजस्काय) भी ईंधन की सप्राप्ति से धधकती है और ईंधनाभाव मे शनै शनै शान्त होने लग जाती है।

वैज्ञानिक विवेचन :—जिस प्रकार मनुष्य ऑक्सीजन ग्रहण करता है और कार्बनडाइऑक्साइड छोडता है। हवा के अभाव मे दम घुटने लगता है। यहाँ तक कि जीवन दीप निर्वाण (बुझ) को भी प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से अग्नि भी श्वास लेने मे ऑक्सीजन ग्रहण करती है और छोडने मे कार्बनडाइ-ऑक्साइड बाहर निकालती है। जबकि आगमिक दृष्टि से श्वासो-च्छ्वास वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करती है और उन्हे श्वासोच्छ्वास रूप मे परिणत कर छोडती है। अर्थात् अग्नि (तेजस्काय) हवा मे ही जीवित रहती है—जलती है। किसी वर्तन से ढक देने या हवा मिलने के साधन के अभाव मे आग तत्काल बुझ जाती है। प्राचीन बद कूप मे, अथवा भूमिगृह मे जो कई वर्षों से बद हो, उसमे जलता हुआ दीपक रख दिया जाय तो तुरन्त बुझ जाता है। इसका कारण जीवित रहने के लिये आवश्यक प्राणवायु का अभाव है। पर इसका यह तात्पर्य नही कि तेजस्काय के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेद ऑक्सीजन ही ग्रहण करे और न ही ऐसा नियम है। इस विषयक स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है। अग्निकाय (तेजस्काय) के जीवो के शरीर की प्रकृति

उष्ण है। अत अति उष्णता मे जीवित रह सके, इसमे आश्चर्य जैसी कोई बात नही है। फिनिक्स पक्षी अग्नि मे गिरकर नव-जीवन प्राप्त करता देखा जाता है।

आज की प्रचलित विद्युत-वल्व मे भी पोलार की स्थिति रही है। उस पोलार मे भी वायु विद्यमान है। तार आदि विद्युतीय सभी उपकरणो के अन्तर्गत भी वायु विद्यमान है। अत विद्युतीय अग्नि मे भी श्वासोच्छ्वास का प्रसग वन जाता है। वाहर जलने वाली तेजस्काय का खाद्य पदार्थ लकडी, घास-फूस, मिट्टी का तेल आदि है। वल्व मे जलने वाली विद्युत का खाद्य पदार्थ टगस्टन के तार आदि हैं। वे जलते रहते हैं। कदाचित् कोई कहे कि एक ही जाति के प्राणियो का एक ही प्रकार का आहार और एक ही प्रकार का श्वासोच्छ्वास होना चाहिये। किन्तु उनका यह कथन यथार्थ नही है क्योकि, इस विश्व मे रहने वाले जीवो की जातियाँ विविध प्रकार की हैं। उनमे एक ही जाति के अवान्तर अनेक भेद माने गये हैं और उन भेदो मे आहार तथा श्वास की भी भिन्नता रहती है। सर्वप्रथम मनुष्य को ही ले ले—मनुष्य जाति के अवान्तर अनेक भेद हैं। उन भेदो मे हिमालय मे वसित मनुष्यो का भी अन्तर्भाव हो जाता है। हिम-प्रदेश मे जन्म लेने वाले मनुष्य वहाँ की शीत एव शीत से सयुक्त वायु को ग्रहण करने मे समर्थ होते हैं। जवकि रेगिस्तान, राजस्थान आदि प्रदेश के मानव स्वअनुकूल हवा के अभाव मे वहाँ (हिम-प्रदेश मे) रहने मे असमर्थ हैं

सुना गया है कि अन्य प्रदेशो के व्यक्ति जव हिम-प्रदेश मे जाते हैं तो ऊनी वस्त्रो के अतिरिक्त एक अगीठी भी अपने सीने पर वाँधते हैं।

इसके अतिरिक्त वनस्पति जाति मे भी विचित्रता पाई जाती है। कोई वनस्पतियाँ तो जितना अधिक पानी वरसता है उतनी अधिक अकुरित, पल्लवित, पुष्पित, फलित होती हैं, किन्तु जवासा नामक वनस्पति उतनी ही अधिक कुम्हलाती है। यद्यपि वनस्पति जाति की अपेक्षाये समान हैं, फिर भी जलवायु, आहारादि की अपेक्षा इनमे भिन्नता पाई जाती है।

आगम मे अग्नि की सात लाख योनियाँ एव तीन लाख कुल कोटि कथित है। इसका समर्थन आधुनिक-विज्ञान से होता है। वैज्ञानिको ने अग्नि के अगणित प्रकार स्वीकार किये हैं और इसका वर्गीकरण चार मुख्य भागो मे किया है —

१ कागज और लकडी आदि मे लगने वाली आग।

२ आग्नेय-तरल पदार्थ एव गैस की आग।

३ विद्युत तारो मे लगने वाली आग।

४ ज्वलनशील धातु—ताँबा, सोडियम और मैगनेशियम मे लगने वाली आग।

अग्नि के प्रकारो की भिन्नता से भी स्पष्ट प्रगट होता है कि अग्नि को प्रज्वलित करने वाले कारणो मे भी मौलिक विभिन्न रासायनिक तत्त्वो का मिलना, लकडी की पायरोलिसेस पानी क्रिया, रेडेशियम हीट-ट्रांसफर पवन, प्रसग आदि आग के प्रकारो की भिन्नता के कारण ही प्रत्येक प्रकार की आग वुझाने के उपाय भी भिन्न-भिन्न काम मे लिये जाते हैं।

वैसे सामान्यत. आग पानी से वुझाई जाती है, परन्तु यदि विजली से लगी आग को पानी से वुझाने का प्रयत्न किया जाय तो इसमे वुझाने वाले को भारी धक्का लगता है। कारण पानी विजली का सुचालक (Conductor) (कन्डक्टर) होता है। पेट्रोलियम आदि ज्वलनशील तरल पदार्थों पर पानी डाला जाता है, तो आग वुझने के वजाय ज्यादा फैल जाती है। यही कारण है कि इस प्रकार की आग पानी डालकर नही, वल्कि रेत आदि अन्य पदार्थ डालकर वुझाई जाती है। चूने पर पानी पडने से उसका भभक उठना व उससे उसकी वाहक ट्रक आदि के जल जाने की घटनाएँ तो सुनी ही जाती हैं।

लोहे की छडो के प्रसग से वर्फ मे भी आग लगती देखी गई है। वैज्ञानिको ने आग वुझाने के लिये विभिन्न रासायनिक तत्त्वो का अन्वेषण किया है। ज्वलनशील तरल पदार्थों की आग वुझाने के लिये पोटेशियम वाइ कार्वोनेट या पर्पिल के पाउडर का उपयोग किया जाता है। मोनो आमोनियम फास्फेट भी आग वढने से रोकने की क्षमता रखता है।

कुछ आधुनिक विद्वानो का कहना है कि —

"विजली अग्नि नही, एक शक्ति है—ऊर्जा है। ऊर्जा और अग्नि ये दोनो एक-दूसरे से पूर्णत भिन्न भौतिक पदार्थ (द्रव्य) है।" किन्तु इस प्रकार का कथन करने वाले महानुभाव जैन-दर्शन के तत्त्व ज्ञान मे अनभिज्ञ है। "विजली और अग्नि" ये दोनो तेजस्काय के भेद है। दोनो स्वतन्त्र पदार्थ हैं और शक्ति-युक्त पदार्थ है। शक्ति-ऊर्जा यह पदार्थ का गुण है, जो पदार्थ से कभी भी पूर्णत भिन्न नही रह सकता। जैसे कि—सूर्य की किरणे सूर्य की ऊर्जा है, वे कभी भी सूर्य से पूर्णत भिन्न नही हो सकती। यदि किरणें पूर्णतः भिन्न हो जायें तो किरणें, किरणे नही रहेगी और न ही सूर्य, सूर्य रहेगा। वैसे ही अग्नि से उष्णता-ताप यह उसकी शक्ति है। उष्णता-ताप अग्नि से पूर्णत भिन्न नही रह सकती। ऊर्जा को अग्नि से पूर्णत भिन्न मानना, तात्त्विक दृष्टि की अनभिज्ञता प्रगट करना है।

वैज्ञानिको के अनुसार आत्मा कुछ क्वाटम कणो का समूह है। क्वांटम कण ऊर्जा के सवाहक के रूप मे स्वीकार किये गये है और यह माना जाता है कि ताप, विद्युत और प्रकाश आदि सभी की मूल इकाई, ये ही क्वाटम कण हैं। (हिन्दुस्तान – १८–८–८२)

अत. वैज्ञानिक दृष्टि से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि 'ऊर्जा और अग्नि" सर्वथा भिन्न द्रव्य नही हैं। यदि यह कहा जाय कि—

"विजली अदृश्य ऊर्जा है, क्योकि वह उसके मूल स्वरूप मे आँखो को दिखाई नही देती।"

जिसका मूल स्वरूप आँखो से दिखाई न दे वह ऊर्जा है, यह कथन भी युक्ति से वहुत दूर है।

जैन-दर्शन की दृष्टि से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्य आँखो से नही देखे जा सकते तो क्या वे सभी ऊर्जा रूप हैं, द्रव्य नही है। जैन-दर्शन का स्वल्प ज्ञाता भी अरूपी द्रव्यो को अस्वीकार नही कर सकता। अर्थात् अरूपी द्रव्यो को गुण-सम्पन्न मानता ही है। वायुकाय आँखो से नही देखी जाती तदपि गुण-सम्पन्न वायुकाय जीव द्रव्य रूप मे स्वीकृत है ही।

जैसे मनुष्य शरीर की आत्मा भी मूल स्वरूप मे आँखो से नही दिखती। तदपि उसके ज्ञानादि गुण की अभिव्यक्ति से ऊर्जा सम्पन्न आत्म-द्रव्य माना जाता है। जैसे आत्मा की शक्ति, ऊर्जा आत्मा से भिन्न नही रहती। वैसे ही विजली-विद्युत के अदृश्य होने पर भी मूल स्वरूप मे आँखो से नही दिखाई देने पर भी, वह द्रव्य नही है ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि झटका लगना यह विद्युत द्रव्य का गुण है। उसकी ऊर्जा शक्ति से अन्य माध्यम मिलने पर प्रकाश और ताप अभिव्यक्त होते हैं। प्रकाश और ताप ये गुण हैं। गुण गुणी (द्रव्य) के विना नही रह सकते। सिर्फ आँखो से अदृश्य पदार्थ को ऊर्जा मान लेने वाले महानुभाव, प्राचीनकाल के नास्तिको का हास्यास्पद पार्ट तो अदा नही करते हैं ?

कुछ विद्वानो का कथन है कि "विजली वाहक तार को स्पर्श करे, तो झटका लगता है और हमे उसके अस्तित्व का अनुभव होता है। लेकिन वह दिखाई नही देता है।"

यह कथन भी वदतोव्याघात के तुल्य है। विद्युत का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नही करने वाला व्यक्ति उसके अस्तित्व का अनुभव करता है। अत यह स्वत. सिद्ध होता है कि, जिसका अस्तित्व है, वह द्रव्य है, और ऊर्जा उसका गुण है।

यदि कोई यह कहे कि "पेड पर विजली गिरी, तो पेड जलकर राख नही होता है। सूखता है, मरता है।"

तो यह कथन सर्वथा अयोक्तिक है। उन्हे इतना भी ध्यान नही है कि विजली की मात्रा कम होने से सूखता है, पर अधिक मात्रा होने पर तो पेड जलकर राख हो जाता है। जैसे कि दो तारो मे परस्पर रगड होने पर तार जलकर राख हो जाते हैं। ऐसे प्रसग प्राय दृष्टिगोचर होते है। तार वनस्पति से अधिक सख्त है। जहाँ अति सख्त की भी राख हो जाती है तो विजली की अधिक मात्रा होने पर पेड की राख कैसे नही होगी ?

सुना जाता है कि—वडे-वडे शहरो मे लकडियो के अभाव मे मनुष्यो का दाहसस्कार विद्युत से किया जाता है और उसकी राख हो जाती है। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि विजली मे राख करने की क्षमता है। पर विद्युत की मात्रा कम होने से पेड जलकर राख नही हो पाता। अग्नि की भी मात्रा कम होगी तो वह किसी की राख नही कर पायगी, वल्कि सुखा देगी।

प्रख्यात वैज्ञानिक सर जे जे टामसन ने हिसाव लगाकर वताया कि—यदि किसी एक परमाणु के भीतर जो शक्ति सगठित है, वह विखर जाय, तो क्षणाश मे ही लन्दन जैसे घने वसे हुए तीन वडे शहर राख हो जाये। यह विद्युत अणुओ की शक्ति पर आधारित गणना थी। अव पता चला है कि इन विद्युत अणुओ की मूल इकाई अति सूक्ष्म प्रकाशाणु है। उनकी शक्ति अनेक गुणा अधिक है।

इस उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि राख करना विद्युत अणुओ की मात्रा पर निर्भर है।

लेकिन इतने मात्र से विजली तेजस्काय नही है यह कथन असमीचीन है।

यह कथन भी कि "विजली, अग्नि, उष्णता, प्रकाश ये चारो एक-दूसरे मे भिन्न हैं।" तत्त्वो की सर्वथा अनभिज्ञता ही सूचित करता है। यदि अल्पाश मे भी तत्त्व का स्वरूप समझा होता तो, उष्णता और प्रकाश को अग्नि या विद्युत से भिन्न कभी नही कहा जाता। क्योकि उष्णता और प्रकाश पदार्थ के गुण है। अग्नि और विद्युत दोनो तेजस्काय पदार्थ हैं। अत उष्णता और प्रकाश ये दोनो अग्नि और विद्युत के गुण है। गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नही रहता। एतद् विपयक उल्लेख एव वैज्ञानिक प्रमाण पूर्व मे दिये जा चुके है।

आकाशीय विद्युत और प्रयोगशाला की विद्युत दोनो विद्युत जाति तेजस्कायिक है। वैज्ञानिक भी आकाश एव प्रयोगशाला की विद्युत को एक

मानते है । यह कथन इतना सरल है कि विज्ञान का अध्ययन करने वाला एक साधारण विद्यार्थी भी इससे अनभिज्ञ नही रह सकता ।

डॉ डी एस कोठारी ने भी स्पष्ट कहा—कि जो अग्नि (तेजस्काय) आम जनता की दृष्टि मे दृष्ट है वह यदि शास्त्रीय परिभाषा से सचित्त है, तो विद्युत निश्चित सचित्त है ।

यदि यह कहा जाय कि "जहा ज्वलन प्रक्रिया चल रही है, वही अग्नि होती है और इस प्रक्रिया को प्राणवायु (ऑक्सीजन) का मिलना बहुत जरूरी है ।"

यह कथन उपयुक्त है किन्तु प्राणवायु का अग्नि जाति के विषय मे सिर्फ ऑक्सीजन हवा का ही मानना युक्तियुक्त नही है । भिन्न-भिन्न जाति के प्राणीवर्ग मे भिन्न-भिन्न प्राणवायु अपेक्षित रहता है । दीपक आदि की अग्नि के लिये कदाचित् ऑक्सीजन प्राणवायु है किन्तु, अन्य अग्नि के लिये अन्य प्राणवायु भी हो सकती है । शास्त्रीय दृष्टि से तो सभी प्राणियो के लिये प्राणवायु श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल ही होते है ।

इसीलिये शास्त्रकारो ने ऑक्सीजन आदि वायु विशेष का नाम न लेकर सिर्फ प्राणवायु का उल्लेख किया है । यदि शास्त्रकारो की दृष्टि मे कोई वायु विशेष ही तेजस्काय के अन्तर्गत सभी भेदो के लिये प्राणवायु होती तो वे सामान्य प्राणवायु का ही उल्लेख न कर स्पष्टतया तेजस्काय के लिये ऑक्सीजन आदि वायु विशेष को ही प्राणवायु कह देते । पर ऐसा कथन नही है और यह होना शक्य भी नही है । क्योकि प्रत्यक्ष मे परिदृष्ट है—मनुष्य के लिये प्राणवायु-ऑक्सीजन की आवश्यकता एव वनस्पति के लिये कार्बन प्राणवायु की आवश्यकता । अत. जलन प्रक्रिया के लिये सिर्फ प्राणवायु-ऑक्सीजन का ही मिलना जरूरी नही, विजली के वल्व मे पोलार रहती है और उस पोलार मे विभिन्न प्राणवायु भी विद्यमान रहती है । यदि किन्चित् भी वायु न रहे तो वल्व सिकुड कर टूट जाएगा ।

यदि कोई कहे कि "विजली का स्विच ऑन करते है, उससे वल्व प्रज्वलित होता है हमे प्रकाश मिलता है । दस पन्द्रह मिनटो वाद वल्व गरम भी लगने लगता है । इस तरह जहाँ प्रकाश है, वहाँ उष्णता है, लेकिन क्या वल्व मे ज्वलन क्रिया हो रही है ? विल्कुल नही ।"

किन्तु यह कथन तो 'घटकुट्यां प्रभात' न्याय का अनुसरण करता है । पूर्व मे जो कहा कि विद्युत, प्रकाश और उष्णता भिन्न है । उसका खण्डन इसी वाक्य मे उपदर्शित है । यदि विद्युत का गुण प्रकाश और उष्णता नही होता तो स्विच

ऑन करने पर प्रकाश नही होता, प्रत्युत् प्रकाश को अन्य तत्त्व का अन्वेषण अपेक्षित होता। किन्तु ऐसा होता नही। विद्युत से प्रकाश का आविर्भाव हुआ। इससे यह सुस्पष्ट है कि विद्युत तेजस्कायिक द्रव्य है और प्रकाश उसका गुण है। तत्काल वल्व गरम भी लगने लगता है। गरम लगना विद्युत का उष्णता गुण है। अव रहा प्रश्न ज्वलन का। इस पर यदि मीमासा की जाय तो वल्व के भीतर मे टगस्टन (एक खनिज द्रव्य) तार का ज्वलन हो रहा है और यदि वहाँ दीर्घ समय तक ज्वलन होता रहे तो उष्णता से तापमान की वृद्धि से अन्य पदार्थ भी जल सकते है। पतगे उसी वल्व की उष्णता मे मूर्छित होकर चार-पाच वार टक्कर खाकर मर जाते हैं। वल्व के भीतर भले ही ऑक्सीजन न हो, पर अन्य वायु तो विद्यमान रहती ही है और वह उस तेजस्काय के लिये प्राणवायु का काम करती है। अन्यथा ज्वलन क्रिया के अभाव मे प्रकाश और गरमी भी समाप्त हो जायगी।

यदि कोई कहे कि—"विश्व मे कुछ द्रव्य ऐसे है, जो विजली के उत्तम वाहक कुछ द्रव्य विजली के दुर्वाहक हैं। उत्तम वाहक से विजली प्रवाहित हो सकती है। दुर्वाहक से नही। हर एक धातु पानी शरीर.. क्षार, आम्ल, पृथ्वी (जमीन) आदि विजली के उत्तम वाहक है। लकडी, एवोनाइट, कॉंच, लाख, तेल, गधक, चीनी मिट्टी, रवड, प्लास्टिक आदि विजली के दुर्वाहक है। क्षारयुक्त पानी विजली का उत्तम वाहक होने से ये दोनो मानो आपस मे मित्र हैं। इसके विपरीत पानी और अग्नि ये दोनो परस्पर शत्रु हैं।"

उपर्युक्त तर्क भी मीमासा की कसौटी पर समीचीन प्रतीत नही होता। क्योकि "काष्ठ आदि विजली के दुर्वाहक हैं, यह वात विजली तत्त्व का अपूर्ण ज्ञाता साधारण वुद्धिजीवी ही कह सकता है, विद्युत तत्त्व का विशेषज्ञ नही। विशेषज्ञ का कथन है कि सामन्य पावर की विजली के लिये काष्ठ आदि दुर्वाहक हो सकता है। पर विशिष्ट पावर वाली विजली के लिये काष्ठादि भी दुर्वाहक तो क्या भस्मीभूत होते देखे गये हैं। पानी मे भी वडवानल विस्तृत होती देखी गई है। तथा दुर्वाहक (दु+वाहक) शब्द ही अर्थ स्पष्ट कर रहा है कि काष्ठादि पदार्थ वाहक तो हो सकते हैं किन्तु कठिनता से।"

उपर्युक्त कथन करने वाला व्यक्ति यदि विद्युत एव अग्नि विषय का परिपूर्ण ज्ञाता होता तो वह इस कुतर्क से जन सामान्य को भ्रमित नही करता। ऐसे भी तत्त्व विश्व मे विद्यमान हैं कि अग्नि के सुवाहक एव ज्वलनशील पदार्थों की सत्ता होने पर भी प्रतिद्वन्द्व तत्त्व की विद्यमानता से आग भी उन "सुवाहक" तत्त्व से प्रवाहित नही हो सकती एव दहनीय तत्त्व को दग्ध भी नही कर सकती। उदाहरण के लिये हाइड्रोजन व ऑक्सीजन दोनो ही गैस है। दोनो ही ज्वलनशील हैं किन्तु जब यही दोनो मिलकर एक ही जाते हैं तो न केवल वे गैस

से तरल स्थिति मे आ जाते है अपितु जलाने की अपेक्षा उसका गुण बुझाने का हो जाता है । इस स्थिति मे ज्वलनशीलता नष्ट नही होती प्रत्युत वह भीतर रह कर पोषण और शक्ति का आधार बन जाती है ।

चन्द्रकान्त मणि के सामने (समीप) आग को कार्पास पर रख देने पर भी वह उसको प्रज्वलित करने मे समर्थ नही हो सकती । काष्ठ भी पास मे पड़ा रहे तो भी अग्नि उसमे प्रवेश नही कर पाती । इतने मात्र से अग्नि की ज्वलनशीलता का निषेध नही कर सकते । प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्त मणि) की विद्यमानता से अथवा पावर की न्यूनाधिकता से ज्वलन क्रिया कही नही भी बनती है और कही बन भी जाती है ।

दो विभिन्न प्रकार की धातुओ अथवा धातु मिश्रण के तारो के सिरे यदि पिघलाकर जोड दिये जायें और उनके सिरो को विभिन्न तापमान पर रखा जाय तो उनमे विद्युत धारा प्रवाहित होने लगेगी, यह तार विद्युत है ।

दो तारो के परस्पर सघर्ष से धातु के तार भी भस्मीभूत हो जाते है । ज्वालाएँ दृष्टिगत होती हैं । इन प्रत्यक्ष दृश्यो से भी भलीभाति सिद्ध है कि विद्युत ज्वलनशील है । फिर दुर्वाहक सुवाहक साधनो का नाम लेकर विद्युत के उष्ण एव प्रकाश गुण को भिन्न मानना-छिपाना "माता मे वन्धया" की तरह प्रलाप मात्र है ।

यदि कोई कहे कि "पानी और बिजली का प्रवाह जब एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं, तो न पानी उडता है और न बिजली बुझती है ।" कितना मायूस मस्तिष्क ! जैसे बिजली की हीट से पानी वाष्प बनकर उड जाता है । उसमे माध्यम काम करता है । लेकिन माध्यम मे वाष्प बनाने की क्षमता नही । वैसे ही विद्युत का माध्यम न हो तो उसमे भी प्रकाश प्रगट नही हो सकता । स्वल्प पानी से भी तड-तड करने वाली उस विद्युत के स्फुलिगो को समाप्त किया जा सकता है । अत पानी और बिजली की तुलना करना और पावर के अनुपात का ख्याल न रखना सुज्ञो के लिये अशोभनीय है ।

यदि कोई कहे कि "बिजली एक क्षण मे दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुच सकती है । अग्नि मे यह गुण धर्म नही ।"

यह तर्क भी कितना बेतुका है । एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाने मात्र से द्रव्य का निषेध करना असगत है । परमाणु द्रव्य कहलाता है । वह भी एक क्षण मे विश्व (१४ रज्वात्मक लोक) के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुच जाता है । इस प्रकार गति से द्रव्य की तुलना करना विस्मृत मति का प्रदर्शन कहा जा सकता है । यह पूर्व मे कहा जा चुका है कि किसी भी पदार्थ

की गति-विगति मे माध्यम आवश्यक है। एक व्यक्ति माध्यम की अनुकूलता से एक स्थल से दूसरे स्थल पर शीघ्रता से पहुच जाता है जबकि दूसरा व्यक्ति माध्यम की प्रतिकूलता से शीघ्र गति नही कर पाता। इतने मात्र से एक को सजीव और दूसरे को निर्जीव नही कहा जा सकता। एक विचारवान् स्वयं समझ सकता है कि शिशु एव तरुण की गति-मदता और त्वरित गति से सजीव-निर्जीव का विभेद नही किया जा सकता।

विद्युत का प्रचण्ड स्वरूप एव त्वरित गति निश्चित तेजस्काय को सिद्ध करता है। छाने आदि की अग्नि (व्यवहार सचित्त अग्नि) इत्यादि विषयक 'अभिधान राजेन्द्र कोष' के प्रमाण भी ऊपर दिये जा चुके है।

घर्षण से बिजली के उद्भव की तरह अग्नि का भी उद्भव होता है। यथा एरण की लकडी के परस्पर घर्षण से, पत्थर और चकमक के घर्षण से, माचिस (आग की पेटी) और दियासलाई के घर्षण से। हाँ, घर्षण की न्यूनाधिकता से तत्क्षण चमक का अलक्षित होना, अग्नि का रूप न लेना, अथवा विद्युत का पूर्ण प्रगट न होना यह अलग बात है। पर, घर्षण की पूर्णता एव तद्जनित तत्त्व को जलने का माध्यम हो तो वहाँ अग्नि और विद्युत दोनो ही देखे जा सकते हैं।

जनरेटर कितना ही तेज चलता हो पर, यदि घर्षण से उत्पन्न विद्युत को जलने का माध्यम न हो तो वहाँ विद्युत भी दृष्टिगत नही होती। जैसे वर्षाकाल मे नदी का पानी अति वेग मे प्रवाहित होता है। बडी-बडी चट्टानो से सघर्ष करता है पर वेग और सघर्ष के परिणाम से जलने वाला माध्यम न होने से बिजली का प्रवाह दृष्टिगत नही होता। इस प्रकार तटस्थ बुद्धि से प्रत्येक स्थल के विषय को हृदयगम करने पर ही वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो सकता है।

जहाँ प्रकाश होगा वहाँ उसका आधार अग्नि या विद्युत होगा ही, पर स्वय प्रकाश अग्नि या विद्युत धर्म नही है क्योकि उष्णता की तरह प्रकाश भी अग्नि-विद्युत का गुण है।

चमक को प्रकारान्तर से प्रकाश भी कहा जा सकता है, किन्तु यह चमक रूप प्रकाश अग्नि या विद्युत का गुण नही कहा जा सकता। जैसे जुगनू मे चमक है, पर वह तेजस्काय का गुण नही। क्योकि उसका शरीर उद्योत नाम-कर्म के उदय से चमकता है। रेडियम धातु आदि भी चमक वाले अवश्य है, पर उनमे तेजस्काय का गुण नही। इस विवेचन से यह भलीभाति स्पष्ट है कि अग्निकाय जैसे बादर तेजस्काय का भेद है, वैसे बिजली भी बादर तेजस्काय का भेद है, लक्षण की समानता होने से ज्वलनादि कार्य भी अग्नि की अपेक्षा विद्युत से कई गुना अधिक होते है। इन विषयक वैज्ञानिक अनुसधान के प्रमाण एव आगम

प्रमाण ऊपर उल्लिखित हुए है। उन प्रमाणो से विद्युत की भयकरता भी सुस्पष्ट है।

इसीलिये 'आचाराग' सूत्र मे तीर्थेश प्रभु महावीर ने तेजस्काय को "दीर्घलोक-शस्त्र" के रूप मे बतलाया है। दीर्घकाल शस्त्र के अन्तर्गत तेजस्काय के सभी भेदो का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार अग्नि (तेजस्काय) की सजीवता स्वय ही सिद्ध है। प्रकाश, उष्णता ये अग्नि (तेज) के गुण है। गुण, गुणी से सर्वथा भिन्न नही रहते। "विज्जु सघरिस समुट्ठिए" शब्द से तथा वैज्ञानिको द्वारा किये गये अग्नि के चार विभागो मे से तीसरा विभाग "विद्युत तारो मे लगने वाली आग" से अग्नि, लाइट, पखे, ध्वनि क्षेपक आदि विद्युत से सचालित वस्तुओ मे रहने वाली अग्नि की सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

(166)

प्रश्न आजकल साधु मुनिराज साहित्य प्रकाशन, जयन्ती मनाना, समारोह मनाना आदि मे लगे हुए हैं। इसमे पाच महाव्रतो मे कोई दोप आता है या नही ?

उत्तर : जो साधु मुनिराज अपनी साधु जीवन की मर्यादाओ की सीमा मे रहते हुए किसी विशिष्ट पुरुप की जन्मतिथि आदि के निमित्त से सामायिक, पौषधव्रत, प्रत्यास्यान आदि धर्म ध्यान करने की प्रेरणा देते हैं और सम्वन्धित विशिष्ट पुरुष के सद्गुणो का प्रतिपादन कर स्व-पर के उत्थान मे उन सद्गुणो से प्रेरणा ग्रहण कराते हैं तो वे अपनी साधु मर्यादा मे दोप लगाने की स्थिति मे नही रहते वल्कि एक दृष्टि से सद्गुणो की वृद्धि का निमित्त उपस्थित करते हैं।

इसके विपरीत अर्थात् साधु मर्यादाओ को छोड कर जो आरम्भ समारम्भ का उपदेश देते है। वैड वाजा आदि के साथ जुलूस को चाहते हैं तथा एतदर्थ प्रेरणा देते हैं एव यत्किचित रूप मे भी सावद्य प्रवृत्तियो मे भाग लेकर जयन्ती आदि का प्रसग उपस्थित करते है या करवाते हैं तो इस अनुपात से उनके अहिंसादि महाव्रत मे दोष लगना सम्भवित है।

साहित्य प्रकाशन का जहाँ तक प्रश्न है, साधु साहित्य प्रकाशन नही करवा सकता। श्रावक वर्ग अपनी सीमाओ के अन्तर्गत साहित्य प्रकाशन आदि का कार्य करता है। यदि उसे शास्त्रीय ज्ञान का पूरा अभ्यास नही है, और शास्त्र विरुद्ध कोई साहित्य उसके द्वारा प्रकाशित न हो जाये, इसके लिए कदाचित् वह आगम मर्मज्ञ सन्त-सती वर्ग से उसका अवलोकन कराता है और सन्त-सती वर्ग भी अपनी मर्यादाओ को

सुरक्षित रखते हुए अवलोकन कर आगम से विपरीत विषय का सशोधन करवाते है तो वह साहित्य प्रकाशन नही कहला सकता है, और तज्जनित दोषो से लिप्त भी नही हो सकता ।

जैसे जिज्ञासु व्यक्ति सन्त वर्ग को प्रश्न पूछता है और वे जिज्ञासु की जिज्ञासा निवृत्ति हेतु उत्तर देते है या लिखते हैं उस वक्त उत्तर लेने वाला या लिखने वाला पुन उन उत्तरो को उत्तरदाता मुनिराज से अवलोकन करवा कर आगमिक त्रुटि को नही रहने का अवलोकन करते हैं तो इसमे मुनिराज दोष के भागी नही हो सकते ।

यदि कदाचित् उत्तर पाने वाला व्यक्ति अपने स्वधर्मी भाइयो की व अन्यो की ज्ञान वृद्धि हेतु उन प्रश्नोत्तरो को प्रकाशित करता है तो यह कार्य प्रकाशित करने वाले व्यक्ति पर निर्भर है । कदाचित् वह उत्तर लेने वाला व्यक्ति उन प्रकाशित पुस्तक मे ऐसा उल्लेख भी कर देता है कि अमुक साधु ने मुझे उत्तर दिया पर मुनिराज अपनी सीमाओ से आगे का अनुमोदन भी नही करते है तो वे निर्दोष ही समझे जाते हैं । वैसे ही उपर्युक्त विधि के साथ कोई साहित्य प्रकाशन होता है तो यह सम्बन्ध गृहस्थावस्था के व्यक्तियो से सम्बन्धित रहता है ।

इस उत्तर मे किसी का यह प्रश्न उपस्थित होना सम्भावित है कि साधु ने अपनी मर्यादानुसार ही कार्य किया पर साधु जी को यह मालूम है कि अमुक व्यक्ति इसको प्रकाशित करने वाला है या करेगा, वैसी स्थिति मे साधु जी ने निषेध नही किया तो वे दोष के भागी बन सकते है या नही ? इस पर शास्त्रीय दृष्टिकोण से चिन्तनीय विषय यह है कि जिस कार्य मे शुभ भावना के साथ जन कल्याण का प्रसग हो और आरम्भ-समारम्भ भी उसके साथ हो तो वैसी स्थिति मे साधु को न निषेध करना और न हाँ करना, बल्कि मध्यस्थ भाव पूर्वक रहना ही उपयुक्त है । क्योकि यदि वह हाँ करता है तो उससे होने वाले आरम्भ-समारम्भ के पाप से सम्बन्धित होता है । यदि निषेध करता है तो जन-कल्याण मे बाधक बनना है । जैसे कि केशी श्रमण के समक्ष प्रदेशी राजा आस्तिक बना और मुनि के समीप मे जाने की तैयारी करने लगा तब केशी श्रमण ने कहा कि "रमणिक होकर अरमणिक मत बनना" ऐसा सुनकर राजा प्रदेशी ने कहा कि भगवन् मै रमणिक होकर अरमणिक नही होऊगा । इतने दिन राज्य की आमदनी के तीन हिस्से करके व्यवस्था करता था । पर अब चार हिस्से करूगा और चतुर्थ हिस्से को दान शालादि खुला कर दीन दुखी अनाथ आदि की भलाई करना हुआ व्यवस्था करूगा । इस आशय के भाव केशी श्रमण ने श्रवण किये परन्तु हाँ या ना न कहते हुए मध्यस्थ भाव धारण कर लिया । यद्यपि वे जानते थे कि यह राजा

के चतुर्थ भाग से नया आरम्भ-समारम्भ चालू करेगा जबकि नास्तिकावस्था मे यह कार्य नही करता था । तथापि वे यह भी जानते थे कि इसका मैं अनुमोदन करता हू तो आरम्भ-समारम्भ से सम्बन्धित होता हू और निषेध करता हू तो दीन दु खी आदि प्राणियो के अन्तराय आदि का भागी बनता हू । अत. मौनस्थ रहे । 'सूत्र कृताग' सूत्र मे भी बतलाया है—

जे दाण पसंसति वहमिच्छति पाणिणो ।
जे य से पडिसेहति वितिछेय करेत्ति ते ।।

भावार्थ :—साधक यदि दान की प्रशसा करता है तो गौण रूप से प्राणियो के वध का अनुमोदन होता है और अगर दान देने का निषेध करता है तो याचक की वृत्ति का छेद अर्थात् अन्तराय आदि को देने वाला होता है ।

इसी प्रकार जन कल्याणकारी साहित्य प्रकाशन आदि कार्य मे शास्त्रीय दृष्टिकोण को सामने रखकर निस्पृह रूप से मौन भाव (मध्यस्थ) का अवलम्बन लेकर चलता है तो वह भी उस प्रवृत्ति जनित दोष से सम्बन्धित नही होता है ।

हाँ यदि उपर्युक्त शास्त्रीय मर्यादा से भिन्न तरीके से प्रकाशन के लिए आज्ञा देता है, उसके लिए चन्दा एकत्रित करवाता है, या प्रेरणा देता है, प्रूफ देखता हुआ आरम्भ-समारम्भ आदि सावद्य कार्यों मे भाग लेता है तो वह भी आरम्भ जनित दोषो से अपने महाव्रतो को दूषित करता है ।

(167)

प्रश्न . आजकल सन्त मुनिराजो के सामने जनता जाती है, जबकि पूर्व मे नही जाती थी । अत आजकल परम्परा मे परिवर्तन क्यो ?

उत्तर · मुनिराजो के समक्ष आजकल जनता जाती है पूर्व मे नही जाती थी, ऐसा कोई ऐकान्तिक नियम नही है । आगमिक धरातल पर इस विपयक चिन्तन करने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो सकती है । 'भगवती सूत्र' के दूसरे शतक के उद्देशक पांच मे तु गिया नगरी के श्रावको के वर्णन मे बतलाया है कि—

"तहारुवाण थेराण भगवताण नाम गोयस्स विसवणयाए कि मन्नपुण अभिगमण वदण नमसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए जाव गहणयाए त गच्छामोण देवाणुप्पिया ।"

तयारूप स्थविर भगवन्तो के नाम तथा गोत्र श्रवण से जीवो को जब महाफल की प्राप्ति होती है तो फिर उनके समक्ष जाने से, वन्दन करने से,

नमस्कार करने से, कुशल समाचार रूप सुख साता पूछने से, उनकी सेवा करने से, यावत् उनके उपदेश धारण करने से आत्मा का कल्याण हो जावे तो इसमे कौनसी आश्चर्य की बात है ? इसलिए हे देवानुप्रिय ! चलो उन स्थविर भगवन्तो के पास चले। उन्हे वन्दना करें, नमस्कार करें, यावत् उनकी पर्युपासना करें।

कौणिक भी भगवान महावीर के समवसरण की सूचना पाकर ही अन्न जल ग्रहण करता था जिसके लिए कौणिक ने पूर्ण व्यवस्था कर रखी थी।

जो सम्राट प्रतिदिन समाचारो को पाकर अन्न जल ग्रहण करने का प्रण (प्रतिज्ञा) ग्रहण कर सकता है वह उनके समीप मे जाने के लिए कितना उत्कण्ठित होगा, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। कौणिक सम्राट की जब यह स्थिति थी तो साधारण मनुष्यो का तो कहना ही क्या ?

श्रीकृष्ण वासुदेव, श्रेणिकादि सम्राट भी चतुरगी सेना के साथ भगवान के दर्शनार्थ पहुचते थे। उसमे हाथी, घोडे, रथ, पैदल के चक्रमण (गमनाचमन) से कितने ही जीवो की हिंसा होती होगी, यह तो श्रेणिक के घोडे के टाप से मरे मेढक से अनुमान लगाया जा सकता है।

उदायन महाराज को दीक्षा लेने की तत्परता को जानकर प्रभु महावीर जब वहाँ पधारे तब उदायन ने सारी नगरी को सजाने आदि की प्रक्रियाएँ की। उन प्रक्रियाओ मे सहज ही ज्ञात हो सकता है कि भगवान के आगमन के प्रसग पर अन्य क्या-क्या नही किया गया होगा ?

दशार्णभद्र एव इन्द्र के आगमन आदि के प्रसग की घटनाओ का वर्णन भी शास्त्रो मे आता है।

यदि इस प्रकार के आवागमन आदि कार्य वीतराग देव एव उनके द्वारा प्ररूपित आगम के प्रतिकूल होते तो भगवान महावीर एव अन्य तीर्थंकर गणधरादि इन उपर्युक्त सभी प्रकार के आवागमन आदि कार्य को रोकने मे सक्षम नही होते ?

इस प्रकार समता के धरातल पर कोई भी सुज्ञ पुरुष चिन्तन के क्षणो मे जान सकता है, कि ये सारे प्रसग क्या सूचित कर रहे हैं और यह परिपाटी कब से व कैसे चली आ रही है ? यह तो वस्तुस्थिति का कथन मात्र दर्शाया गया है। लेकिन जहा तक मेरा प्रश्न है मैंने कभी किसी को भी मेरे सामने आने की प्रेरणा नही दी। लोग अपनी इच्छा से आये या ना आयें, यह उन्ही पर निर्भर है। ऐसे प्रसगो का निषेध जब तीर्थंकर गणधरादि ने भी नही किया

तो शास्त्रीय मर्यादा के अनुरूप श्रमण पर्याय का पालन करने वाला सन्त वर्ग कैसे निषेध कर सकता है। क्योकि वह तो पूर्व महापुरुषो के पद चिन्हो पर चलने वाला है।

अतः गृहस्थ वर्ग के कार्य जो शुभाशुभ से सयुक्त हो, उसमे साधु को केशी श्रमण की भाति तटस्थ भाव रखना योग्य रहता है।

(167)

प्रश्न : पुण्य रूपी है या अरूपी ? अरूपी है तो कैसे ? क्योकि ससारी आत्मा तो रूपी है तब उस आत्मा का परिणाम (भाव) भी रूपी ही होना चाहिये।

उत्तर बन्ध रूप और उदय रूप जो पुण्य है वह पौद्गलिक स्वरूप होने से रूपी है लेकिन तत्सम्बन्धी अध्यवसाय चैतन्य आत्मा का स्वरूप (स्वभाव) होने से अरूपी है। ससारी आत्मा कर्म एव मन, वचन, काया के पुद्गलो मे क्षीर नीर की तरह मिली हुई होने से रूपी कहलाती है पर आत्मा का जो स्वभाव है वह अरूपी है, जैसे दूध और पानी मिल जाने पर भी दूध का माधुर्य एव पौष्टिकता रूप स्वभाव दूध का ही है न कि पानी का। मन के दो भेद हैं एक तो पौद्गलिक स्वरूप से निर्मित और दूसरा आत्मा का स्वभाव स्वरूप। जो पौद्गलिक स्वरूप से निर्मित मन है, वह रूपी है व उसकी पर्यायें भी रूपी हैं पर दूसरा जो भाव मन है, वह अरूपी है क्योकि वह आत्मा का स्वभाव है। वह भाव मन द्रव्य मन के साथ ओतप्रोत होने पर भी दूध स्वभाव की तरह अपने स्वभाव को नही छोडता अत. अरूपी ही रहता है।

जैसे :—ज्ञान आत्मा का स्वरूप होने से अरूपी है और वह अरूपी ज्ञान पदार्थों को भी भली प्रकार जानता है, देखता है फिर भी उसका अरूपित्व स्वभाव रूपी नही बनता और वह ज्ञान रूपी आत्मा मे भी होता है। पर उसको रूपी नही कहा जा सकता, वैसे ही आत्मा के स्वभाव रूप अध्यव्यवसाय रूपी पदार्थों के साथ ओत-प्रोत होते हुए भी वे अध्यवसाय अरूपी होते है।

(168)

प्रश्न सामान्य श्रावक एव प्रतिमाधारी श्रावक का प्रतिक्रमण एक ही समान है या अलग-अलग ?

उत्तर : प्रतिमाधारी एव अन्य श्रावको के लिए एक ही श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र है न कि अलग-अलग। व्रतो मे लगे अतिचारो की शुद्धि के लिए श्रावक प्रतिक्रमण करता है। श्रमण प्रतिज्ञा नही होने से श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण के साथ सयुक्त करना योग्य प्रतीत होता है।

(169)

प्रश्न : भावी भावना की पुष्टि करने के लिए श्रावक को प्रतिक्रमण मे श्रमण-सूत्र का उच्चारण करना चाहिये या नही ?

उत्तर भावी भावना को परिपुष्ट करने के लिए स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रावक प्रतिक्रमण के वाद श्रमणचर्या की जानकारी आदि के लिए श्रमण-सूत्र कर सकता है। जैसे कि जिसने एक भी व्रत ग्रहण नही किया है वह श्रावक श्रावक प्रतिक्रमण, श्रावक जीवन की जानकारी के साथ-साथ भावी भावना एव स्वाध्याय के रूप मे रहता है।

(170)

प्रश्न · 'रायप्पसेणी सूत्र' मे राजा प्रदेशी के अधिकार मे मशक से भरी हुई हवा का दृष्टान्त है, हवा मे वजन नहीं है। विज्ञान हवा मे वजन सिद्ध करता है सो कैसे ? प्रमाण सहित स्पष्टीकरण करावें।

उत्तर · हवा मे वजन तो होता है ऐसा आगमो मे भी मान्य है क्योकि वायु को आगम मे भी "गुरु लघु" वताया है इससे वायुकाय मे वजन होना सिद्ध होता है। दृष्टान्त वस्तु तत्त्व को समझाने के लिए दिया जाता है और वह एक देशीय होता है, वह काल्पनिक भी हो सकता है। इसका उल्लेख नदी आदि सूत्रो मे भी मिलता है। अत रायप्प सेणी सूत्र मे जो मशक का दृष्टान्त दिया गया है वह तत्कालीन जन समाज मे प्रचलित धारणा को लेकर राजा को तत्त्ववोध कराने हेतु दिया गया है, इसलिए वर्तमान विज्ञान से इसमे कोई विरोध का प्रसग नही वनता।

(171)

प्रश्न · जुआ खेलना हमारे लिए पाप क्यो ? जवकि हर एक व्यवसायी अधिक लाभ हेतु स्टॉक करता है और उसमें पैसा लगाता है। कभी नुकसान होता है तो कभी फायदा उठाता है। यह भी एक जुआ है फिर उन्हे पाप नही और हमे पाप क्यो ?

उत्तर · जुआ और व्यापार मे रात-दिन का अन्तर है। सट्टा, फीचर आदि जुए की श्रेणी मे आ सकते है परन्तु कोई स्टॉक रख कर व्यापार करता है उसे जुआ नही कहा जा सकता। व्यापार मे घाटा, मुनाफा होता है जवकि जुआ मे हार-जीत होती है। जुआ मानवीय सस्कृति मे निन्दनीय है जवकि व्यापार मानवीय सस्कृति मे सभ्यो का आचरण है। अत जुआ और व्यापार को एक मानना युक्तियुक्त नही है।

जहां तक पाप और पुण्य का प्रसग है, व्यापार करने मे पाप हो सकता

है। धर्म या पुण्य ही होता है ऐसा एकान्त कोई नियम नही है। जुआ से कई परिवार के परिवार समाप्त हो जाते हैं जैसे राजा नल, पाडव आदि। परन्तु व्यापार से ऐसा कम सभव है।

(172)

प्रश्न : श्रावक के पहले व्रत मे जो पाच अतिचार का उल्लेख है उसमे अइभारे का उल्लेख आया है कि अधिक भार लादना इतना ही वताया है। इसको सिर्फ पशुओं पर भार लादना ही समझना या अन्य प्रकार से मनुष्यादि से भी सम्वन्ध रखता है—जैसे दुकान के अन्दर काम करने वालो से शक्ति से ज्यादा काम लेना तथा वर्तमान के अन्दर रीति-रिवाज जो कुछ चल रहा हैं जैसे दहेज-टीका आदि के सम्वन्ध मे। जोकि हैसियत से ज्यादा माग करने से उसका परिणाम क्या होता है। इसलिए इस प्रकार के विपय पहिले व्रत के अतिचार मे आते हैं या नहीं ?

उत्तर : अति भार नामक अतिचार से केवल पशु पर अधिक भार भरना ही नही होता है। मनुष्य पर अधिक भार लादना अथवा उसकी शक्ति से अधिक कार्य लेना भी अतिभार नामक अतिचार के अन्तर्गत आ जाता है।

दहेज-टीका आदि की हैसियत से अधिक माग करना भी अपेक्षा से अतिभार के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

(173)

प्रश्न : पाँचवे व्रत में मर्यादा का उल्लेख करते हुए वताया है दुपयचउप्पय—जिसमें दुपय मे दास-दासी का उल्लेख किया तो क्या इसके अलावा अपनी स्वस्त्री एक या एक से अधिक विवाह की मर्यादा करना यह भी दोपद से परिग्रह मे आ सकता है ? शास्त्रो में पांच-पांच सौ विवाहो का उल्लेख आता है। पूछने का तात्पर्य यही है कि दोपद में स्वस्त्री को परिग्रह मे समझना या कैसे ?

उत्तर : जिस स्त्री के साथ जगत् साक्षी से अथवा गन्धर्व विवाह किया गया है ऐसी विवाहित स्त्री का समावेश चतुर्थ स्वदार सतोप व्रत के अन्तर्गत आ जाता है। इसके अतिरिक्त दास-दासी, नौकर आदि दो पैर वाले प्राणियो का दुप्पय परिग्रह के अन्तर्गत समावेश होता है।

(174)

प्रश्न : साधु रात्रि में प्रवचन देने के लिए कितनी दूर जा सकता है तथा कितनी रात्रियो तक जा सकता है ?

उत्तर : रात्रि मे परठने के लिए जितनी भूमि मे साधु जा सकता है

प्रवचन के लिए भी रात्रि मे उतनी ही भूमि की मर्यादा समझनी चाहिये। वह भी एक ग्राम मे, अपवाद स्वरूप एक या दो रात्रि, उससे अधिक नही।

(175)

प्रश्न : उपवास मे लोग, त्रिफला, विरयाली, इलायची आदि का पानी प्रयोग किया जाता है अत उपर्युक्त वस्तुएँ सादिम जाति की होने से उनके व्रत मे सुरक्षा की दृष्टि से वाधा आने की शका रहती है, अत कैसे क्या मानना ? व उसी को यदि साधु भी काम मे लेवें तो कैसे क्या मानना ?

उत्तर उपवास मे गृहस्थ हो अथवा साधु-धोवन या गरम पानी ही उपयोग मे लेना चाहिये। लोग, त्रिफला आदि द्रव्यो से वनाया गया पानी अचित्त हो सकता है पर उपवास आदि मे उसे ग्रहण नही करना चाहिये। हाँ, जिस श्रावक को सचित्त का त्याग हो वह उपवास के अतिरिक्त दिनो मे धोवन एव गरम पानी के अभाव मे यात्रादि के प्रसग से लाचारी वश लोग आदि का पानी उपयोग मे लेता हो तो उस समय भी यह विवेक आवश्यक है कि उस पानी का वर्ण, गघ, रस, स्पर्श वदल जाना चाहिये। त्रिफला एव विरयाली आदि का पानी औषधि के रूप मे साधु को आवश्यक हो तो अपवाद रूप मे ले सकता है पर पेय पानी के रूप मे लेना नही कल्पता।

(176)

प्रश्न ' क्या सप्त कुव्यसन मे किसी व्यसन से ग्रस्त रहते हुए भी सामायिक, सवर जैसी साधना करने की योग्यता हो सकती है ?

उत्तर ' यद्यपि सप्त कुव्यसन खोटे है। इसलिए इनको जीवन मे स्थान नही देना चाहिये। लेकिन जो व्यक्ति इन व्यसनो से ग्रस्त है पर उसकी भावनाएँ वदल रही हैं उस समय वह सामायिक-सवर की क्रियाएँ करके अपने जीवन को पवित्र वनाना चाहता है तो ऐसी स्थिति मे ये सावना नही हो सकती, ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि सामायिक-सवर करके भी एक दिन वह दुर्व्यसनो को तिलाजली दे सकता है। और यदि यह कह दिया जाय कि उसके तो सामायिक हो ही नही सकती चूकि वह दुर्व्यसनो से ग्रस्त है तो उसके सुधरने के, परिमार्जित होने के अवसर कव प्राप्त होंगे ? यह विचारणीय वात है। यह ठीक है कि वह सभी दुर्व्यसनो को छोडकर पवित्र साधना मे तन्मय वने पर वैसी स्थिति नही हो और उसको स्वय को अपने दुर्व्यसनो के प्रति घृणा है, छोडने के भाव रखता है, ऐसी स्थिति मे उसकी धार्मिक प्रवृत्तियो को अनुचित नही कहा जा सकता।

प्रश्न : भारतीय साहित्य मे दर्शनो की परम्परा का क्या आधार है ? क्या रूप है ? उनके ऐतिहासिक क्रमो का वर्णन बतलाइये ।

उत्तर · भारतीय साहित्य विविध विधाओ मे विकास को प्राप्त हुआ । भारत मे साहित्य की सरचना चिरकाल से चली आ रही है । उसी साहित्य की अनवरत धारा मे दर्शन साहित्य विकसित हुआ । जिसने जनमानस मे प्रादुर्भूत होने वाले प्रश्न—वह कौन है ? इसका क्या लक्ष्य है ? ससार क्या है ? इसका कोई सृष्टा है या नही ? स्वर्ग-नरक, अपवर्ग निरीह कल्पना है या वास्तविक सत्य ? आत्मा और परमात्मा का क्या रहस्य है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नो का युक्ति एव लक्षणो के साथ यथासम्भव समाधान प्रस्तुत किया है ।

युक्ति पूर्वक तर्क सगत तत्त्व-ज्ञान पाने के महत्त्व को दर्शन कहा जाता है । भारतोय दर्शनो का आधार भारतीय साहित्य मे षट्-दर्शन की सख्या कब से निश्चित हुई—इसका स्पष्ट समाधान इतिहास के पृष्ठो मे प्राप्त नही होता है ।

अदृश्य जगत् मे स्थित प्रश्नो का समाधान बिना किसी विशेष प्रज्ञा से स्पष्ट रूप से नही किया जा सकता है । उसके लिये कल्पना, युक्ति एव तर्कों का सहारा लिया जाता है । दर्शन जगत् मे भी प्रत्यक्ष की सहायता से अप्रत्यक्ष का प्रतिपादन किया जाता है । प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन का आधार है । युक्ति उसका प्रमुख साधन है । प्रत्यक्ष ज्ञान किसके आधार पर है । इसके प्रतिपादन मे दार्शनिको की मुख्यतया दो मान्यताये रही हैं । कितनेक दार्शनिको का यह मत है कि दर्शन-शास्त्र जन-साधारण के प्रत्यक्षानुभव पर आधारित है तो कितनेक दर्शनो का अभिमत है कि ईश्वर, मोक्ष आदि अनेक विपयो का ज्ञान जन-साधारण के प्रत्यक्षानुभव के आधार पर नही अपितु आप्त पुस्तको के अनुभव पर अधिक सटीक रूप से प्राप्त हो सकता है । न्याय, वैशेपिक, चार्वाक, साख्य आदि दर्शनो का मन जन साधारण के प्रत्यक्षानुभव पर है किन्तु जैन–बौद्ध आदि दर्शनो का ज्ञान आप्तपुरुपो पर आधारित है ।

जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है कि दार्शनिको के विचार मुख्यतया युक्ति पर आधारित हैं । किन्तु कुछ विचारको का कहना है कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति स्वतन्त्र विचारो से नही हुई है, वरन् आप्त वचनो से हुई है । अतः भारतीय दर्शन युक्ति से प्रतिपादित नही है किन्तु युक्तिहीन है । लेकिन इस प्रकार का आक्षेप सभी दर्शनो पर नही किया जा सकता है ।

क्योकि भारतीय दर्शनो मे जहा आप्त वचनो का आधार माना है वहा युक्ति एव तर्को का भी पूरा-पूरा आश्रय लिया है ।

प्रमाणो के विषय मे चार्वाक प्रत्यक्ष को बौद्ध एव वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान को, साख्य, प्रत्यक्ष अनुमान एव शब्द को, नैयायिक प्रत्यक्ष अनुमान शब्द एव उपमान को, प्रभाकर मीमासा अर्थापत्ति सहित पाच एव कुमारिल्ल भट्ट मीमासक तथा वेदान्ति अभाव सहित छ प्रमाण मानते हैं । सम्भव एव एतिह्य आदि को भी पौराणिक दर्शनो मे प्रमाण माना गया है । किन्तु जैन दर्शन की प्रमाण मीमासा विलक्षण प्रकार की है । जैन दर्शन मे मुख्यतया दो प्रमाण माने जाते है । प्रत्यक्ष एव परोक्ष के इन दो के आधार पर जैन दर्शन वस्तु जगत् की विवेचना प्रस्तुत करता है । प्रत्यक्ष प्रमाण—व्यावहारिक एव पारमार्थिक के भेद से दो प्रकार का है । परोक्ष प्रमाण के स्मृति, पत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पाच प्रकार है । इस प्रकार वस्तु जगत् की समस्त विवेचना को प्रस्तुत करने के लिये उनके आधारभूत प्रमाणो की यह विवेचना जैन दर्शन की एक अपूर्व देन रही है । जिन प्रमाणो के आधार पर यथातथ्य रूप से सभी जगत् की सब समस्याओ का स्पष्ट एव सयुक्तिक समाधान जैन दर्शन मे उपलब्ध होता है ।

ऐतिहासिक क्रम

यूरोपीय दर्शन के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि यूरोपीय दर्शनो की उत्पत्ति एक साथ नही वरन् एक दूसरे के पश्चात् हुई है । कुछ समय तक दर्शन का प्रचार रहता । फिर किसी दूसरे मत का उत्थान होता । किन्तु भारतीय दर्शनो का विकास इस प्रकार नही हुआ है न ही इनकी उत्पत्ति एक ही समय मे हुई है । अत दर्शनो की उत्पत्ति का वास्तविक क्रम क्या है इस विषय मे निश्चित रूप से तो कुछ भी नही कहा जा सकता । फिर भी आन्विक्षिकी विद्या मे साख्य योग और लोकायत मतो का उल्लेख मिलता है । कौटिल्य के समय तक न्याय शास्त्र को पृथक् दर्शन के रूप मे स्थान नही मिला था । आन्विक्षिकी के रूप मे उसकी सत्ता माननी चाहिये । न्याय शास्त्र मे जब वैशेषिक दर्शन को समान तन्त्र माना जाने लगा तब वह सब विद्याओ का आधार रूप न रह कर एक स्वतन्त्र दर्शन बन गया । यही कारण है कि पुराणो और स्मृतियो में न्याय और मीमासा को पृथक् गिनाया गया । इस प्रकार पुराणकाल मे न्याय, साख्य, योग, मीमासा और लोकायत, ये दर्शन पृथक् रूप से माने जाते हैं । स्मृति और पुराणो मे, विद्या स्थानो मे साख्य योग और लोकायत को स्थान मिलना सम्भव नही था । क्योकि उनका आधार वेद नहीं था किन्तु महाभारत और गीता मे स्पष्ट है कि दर्शनो मे साख्य और योग का स्थान पूरी तरह जम चुका था । और वे अवैदिक नहीं

किन्तु वैदिक दर्शन मे शामिल कर लिये गये थे । इस प्रकार ईसा के प्रारम्भ की शताब्दियो मे न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा अपना-अपना पृथक् दर्शन के रूप मे अस्तित्व जमा चुके थे । किन्तु जैन, बौद्ध और चार्वाक इनके विरोध मे ईसा पूर्व के काल से ही विद्यमान थे ।

मीमासा मे कर्म और ज्ञान को लेकर दो भेद हो गये थे । अतएव वैदिको मे षट् तर्क या षट् दर्शन की स्थापना हो चुकी थी । जिसमे न्याय—वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्व और उत्तर मीमासा प्राधान्य रखते थे । ये षट् दर्शनो के नाम वैदिक सस्कृति के अनुसार सामने आये थे किन्तु इसके अतिरिक्त जहा वैदिक दर्शन से अतिरिक्त षट् दर्शनो की विवेचना की जाती है वहा अन्य दर्शनो के नाम सामने आते है । "षड्दर्शन समुच्चय" ग्रन्थ के प्रणेता हरिभद्र सूरि ने षट्दर्शन मे निम्न नाम बतलाये हैं—बौद्ध नैयायिक साख्य जैन वैशेषिक तथा जमिनिय च नामामि दर्शनानाममून्य हो ।

बौद्ध, नैयायिक, साख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनिय ये छ मूल दर्शन है ।

इन छ दर्शनो मे प्राय सभी मुख्य-मुख्य दर्शनो का समावेश कर लिया गया है । षड्दर्शन के रूप मे दर्शनो की विवेचना ईसवी सन् के प्रारम्भ की कई शताब्दियो के बाद हुई है ।

भारतीय दर्शनो के विषय मे अनेक कारण रहे हुए हैं । जब भी किसी दर्शन का प्रतिपादन होता था तब उनके अनुयायियो का एक वर्ग स्थापित हो जाता था । वर्गगत सभी सदस्य उन दार्शनिक विचारो को अपना अग मानकर चलते थे । यह मान्यता एक पीढी के बाद दूसरी पीढी मे अविच्छिन्न रूप से परम्परा के रूप में चली आती थी । इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनो मे आलोचना का क्रम भी बहुत तीव्रता के साथ था । हर दर्शन अन्य दर्शनो का युक्ति, तर्क आदि से निरसन करता हुआ अपने दर्शन की पुष्टि करने मे सतत प्रयत्नशील रहता था । इसका परिणाम यह आया कि भारतीय दार्शनिको मे अपने विचारो को स्पष्ट एव अभ्रान्त रूप मे रखने का एक व्यसन सा पड गया । इससे दार्शनिक साहित्य का बहुत अधिक विकास हुआ । इस प्रकार अनेकानेक कारणो से दर्शन एव तत्सम्बन्धी साहित्य भारतीय साहित्य एव दर्शन जगत मे विकसित हुआ ।

(178)

प्रश्न : साध्वियो के स्थान पर पुरुष वर्ग पौषध करें और अगर शाम को चार बजे से पानी की झडी लग जावे तो वे अपने स्थान पर कैसे जावें ?

उत्तर पौषध व्रत मे अगर पुरुषो को सती वर्ग के स्थान पर रहने का प्रसग उपस्थित हो गया हो, और समय की मर्यादा आ गयी हो तो श्रावक वर्ग का वहा से अन्यत्र दया पाल लेना योग्य लगता है। वर्षा के कारण छींटे लगने की सम्भावना हो तो उसका प्रायश्चित् लिया जा सकता है। पर सती वर्ग के स्थान पर उनका रहना कतई उपयुक्त नही है। क्योकि पुरुष वर्ग के रहने पर वह स्थान सती वर्ग के लिए अकल्पनीय हो जाता है। अतएव सती वर्ग के कल्प की मर्यादा को सुरक्षित रखना परम आवश्यक है।

(179)

प्रश्न · यदि शुद्ध सामायिक नहीं बन सके तो जैसी बने वैसी करें, क्या ऐसा करने से कभी शुद्ध सामायिक हो सकती है ?

उत्तर · प्रत्येक साधक का लक्ष्य शुद्ध सामायिक करने का होना चाहिये। शुद्ध सामायिक के भावो को प्रकट करने के लिए निरन्तर अभ्यास एव दृढ विश्वास की आवश्यकता रहती है। यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे अभी शुद्ध सामायिक नही बन सकती है तो मुझे सामायिक ही नही करना चाहिये। उस व्यक्ति का यह सोचना ठीक नही कहा जा सकता। जैसे स्कूल मे विद्यार्थी जब पहली बार पहुँचता है, तब प्रथम बार मे ही वह सब कुछ नही सीख जाता। धीरे धीरे वह दृढ सकल्प बल के साथ आगे बढता हुआ एक न एक दिन वह ग्रेज्युएट बन जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन की साधना के बारे मे सोचना चाहिये। सामायिक आध्यात्मिक जीवन की महत्त्वपूर्ण साधना है। इस साधना के शुद्धतम स्वरूप को प्राप्त करना है। पर कब ? जब उसमे प्रवेश किया जाय। प्रवेश करने के बाद भी अभ्यास किया जाय। प्रवेश और अभ्यास के अभाव मे वह परिपूर्ण सामायिक के स्वरूप को उजागर नही कर सकता। यदि कोई विद्यार्थी यह सोचले कि मुझे एम० ए० की पुस्तक पढनी आ जाय फिर मैं स्कूल मे प्रविष्ट होऊ, नही तो नही। यह सोचना जैसे हास्यास्पद है वैसे ही कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरे मे सामायिक आ जाय फिर मैं सामायिक की क्रिया मे लगू, नही तो नही, हास्यास्पद है। साधक को शुद्ध सामायिक का अविचल लक्ष्य बना कर अपूर्व उत्साह और तत्परता के साथ आगे बढना चाहिये जिससे एक न एक दिन अवश्यमेव शुद्ध सामायिक उसके भीतर प्रकट हो सकती है।

सामायिक करते हुए कही दोषो का प्रसग आ जाय तो उसका पश्चात्ताप कर प्रायश्चित लेकर सामायिक की क्रिया निरन्तर करते रहना चाहिये।

(180)

प्रश्न क्या सन्त अपने पहनने के वस्त्र, गाऊन वस्त्र आदि श्रावक को तपस्या मे ग्या कर दे सकते है या नही ?

उत्तर सन्तों को अपनी नेश्राय की वस्तुएँ अथवा अपने कपडे, नाखून, बाल आदि वस्तुएँ गृहस्थो को देना सर्वथा अनुचित है। क्योकि श्रमण की मर्यादाये भिन्न होती हैं। उन मर्यादाओ के अन्तर्गत रहते हुए उसे यह कार्य करना उचित नही कहलाता। इससे जिन शासन का अपवाद होता है। किसी का भला हो या न हो पर बदनामी अवश्य हो जाती है । अत साधु-साध्वियो को अपनी नेश्राय की वस्तुएँ गृहस्थ को नही देनी चाहिये। इसके साथ ही अगर कोई श्रावक भावुकतावश साधुओ के पास से अथवा उनके पात्रादि मे से कोई वस्तु उठाने की चेष्टा करे तो उसे रोकना चाहिए और थोडा कठोर वन करके साधुओ के पात्रादि से वस्तुएँ उठाने का त्याग करवा देना चाहिये। साधु स्वय चला कर यदि गृहस्थ को देता है तो भगवान की आज्ञा का उल्लघन करता है। साधु गृहस्थ के यहा से कोई वस्तु लावे और अन्य गृहस्थो को बाटता रहे तो वह गृहस्थ की चोरी करता है क्योकि गृहस्थ साधुओ के उपभोग के लिए आहारादि का दान करता है । कदाचित् किसी परिस्थितिवश कभी अशनादिक अधिक आ गया हो तो उसके लिए भी भगवान ने पाचवी समिति के अन्तर्गत विधि बतलाई है। पर गृहस्थो को देने का विधान नही किया। क्योकि गृहस्थो को अशनादि अथवा स्वय नेश्रायगत वस्त्रादि देना तीर्थ कर भगवन्तो ने आदान यानी कर्म बन्ध का कारण माना है। अत साधु को अपने नेश्राय का अशनादि अथवा वस्त्रादि गृहस्थो को नहीं देना चाहिये।